प्रकाशक
श्री गोविन्दराम हासानन्द
आर्य साहित्य भवन
नई सड़क देहली

मुद्रक
पृष्ठ १० से १२० तक, जैयद प्रेस देहली
बाकी सब, प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स
बाज़ार सीताराम देहली

प्रभु चरणों में

समर्पित

प्रकाशक का निवेदन

पूज्यपाद, वीतराग, श्रीमहात्मा आनंद स्वामी जी महाराज भारत की एक उज्ज्वल विभूति हैं। इनकी वाणी और लेखनी दोनों ही बहुत सबल और यशोमयी हैं। इनका जन्म पश्चिमी पंजाब के गुजरात मण्डल-अंतर्गत, एक ग्राम 'जलालपुरजट्टां' में हुआ था। इनके पिता जी कट्टर आर्य थे। उनसे आर्यत्व की भावना और अपने पूर्वजन्म के संस्कारों से लिखने की कला लेकर ये लाहौर आये। 'आर्य-गजट' के सम्पादक बने। फिर इन्होंने दैनिक 'मिलाप' का संचालन और सम्पादन आरम्भ किया। उर्दू 'मिलाप' में सफलता प्राप्त करने के उपरांत इन्होंने 'हिन्दी मिलाप' आरम्भ किया। यह उस समय की बात है, जब कि पंजाब से हिन्दी दैनिक का प्रकाशन बहुत भारी जोखम और साहस का कार्य समझा जाता था। पहिले आप खुशहालचंद नाम से प्रसिद्ध थे। फिर लाला खुशहालचंद 'खुरसंद' कहलाये। फिर श्री खुशहालचंद 'आनंद' बने। और फिर एक दिन—जमनानगर में पूज्यपाद १०८ श्री स्वामी आत्मानंद जी महाराज से संन्यास की दीक्षा लेकर—महात्मा आनंदस्वामी सरस्वती के रूप में संसार के सामने आये।

अपनी युवा-अवस्था में ही आपने आर्य समाज में प्रवेश किया। देखते ही देखते आर्य सामाजिक क्षेत्रों में तथा देश के राजनैतिक जीवन में, आपने अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। स्वर्गीय पंजाब केसरी श्री लाला लाजपतराय जी और श्री महात्मा हंसराज जी का आपके प्रति अगाध प्रेम और विश्वास था। आपने सेवा के सभी क्षेत्रों में बहुत बड़े-बड़े कार्य किये हैं। सच्चे हृदय से, पूर्ण लग्न से, और निरंतर पुरुषार्थ करके, मनुष्य क्या-क्या कर सकता है? इसका उत्तर आपके जीवन से हमें प्राप्त होता है।

आर्यगजट, मिलाप, हिन्दी मिलाप, आदि अनेक पत्रों के सम्पादक, अनेक ग्रन्थों के लेखक और प्रकाशक, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के मन्त्री एवं प्रधान, श्रीमद्दयानंद एंग्लोवैदिक कालिज कमेटी के प्रधान, आर्य सत्याग्रह हैदराबाद के तृतीय सर्वाधिकारी, आदि-आदि—के रूप में

आपने जो-जो सेवायें की हैं, वे अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं। आपके सुपुत्र श्री रणवीर संचालक-'मिलाप' देहली, श्री यश एम. एल. सी; सम्पादक-'हिन्दी मिलाप' जालंधर और श्री युद्धवीर सम्पादक-'मिलाप' हैदराबाद दक्षिण, भारत के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अपना-अपना विशेष स्थान रखते हैं। संन्यास आश्रम में प्रवेश करके त्याग, तप, वैराग्य एवं साधना के मार्ग पर, आप जिस मस्तचाल से आगे बढ़ रहे हैं—धार्मिक संसार उसे बहुत आशा और उल्लास के साथ देख रहा है।

पूज्य महात्मा जी ने अल्पकाल में ही वैदिक 'अध्यात्मवाद' के प्रचार से देश में आशा की एक नई लहर उत्पन्न कर दी है। हिन्दी में उत्तम आध्यात्मिक साहित्य का जो अभाव देर से खटक रहा था, आपने अपनी कृतियों द्वारा उसकी बहुत कुछ पूर्ति कर दी है। आपकी, आपके उपदेशों की और आपके ग्रन्थों की प्रशंसा आज सर्वत्र हो रही है। भारत-विभाजन से पीड़ित जनता को आपके उपदेशों एवं ग्रंथों से, अपने कष्टों को भूलने तथा सहन करने में बहुत सहायता मिल रही है।

'प्रभु-दर्शन' आपका एक बहुत महत्व पूर्ण ग्रंथ है, जोकि आपने संन्या -आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् 'गंगोत्री' के पवित्र-तीर्थ पर बैठ कर लिखा है। इसमें आपकी लेख-कला क्रियात्मक ईश्वर-भक्ति के कारण, उस पराकाष्ठा को पहुंच गई है, जहां केवल एक ऐसा वीतराग योगी ही पहुंच सकता है, जिसने सारी दुनिया को अपनी हथेली पर रख कर गेंद के समान देखा हो।

श्री महात्मा जी ने इस परिवर्धित और संशोधित 'प्रभु-दर्शन' के प्रकाशन का आदेश प्रदान करके, हमारा जो सन्मान किया है, उसके लिये हम आपके चिर-ऋणि रहेंगे।

एक शुभ समाचार

श्री महात्मा जी ने अपना एक और नवीन ग्रंथ—'तत्व ज्ञान' भी हमें प्रकाशनार्थ प्रदान किया है, जोकि हम मुद्रित कराके बहुत शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। अंत में, हम परम पिता परमात्मा का हृदय से धन्यवाद करते हैं, जिनकी कृपा से हमें ऐसे उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन का अवसर मिला है।

देहली, २७—११—५२ गोविन्दराम हासानन्द

विषय-सूचि

आत्मा की तलाश — छटा अध्याय

महाकठिन मार्ग — सातवाँ अध्याय

प्रभु-दर्शन — आठवाँ अध्याय

पूज्यपाद महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

(याज्ञवल्क्य संहिता)

योग द्वारा आत्म-दर्शन ही परम-धर्म है ।

[१]

आत्म-निवेदन

[१९३९ से १९५०]

ग्यारह बरस बीत गये। ग्यारह बरस पहले मैं गुलबर्गा (हैदराबाद दक्षिण) के एक कारावास का बेबस बंदी था। ग्यारह बरस बाद मैं संसार के रमणीकतम प्रदेश का स्वच्छन्द पंछी हूं। कर्त्तव्य की जो पुकार मुझे काराओं के भीतर खींच ले गई थी, वही पुकार मुझे इन उत्तुंग हिमाच्छादित गिरि-शिखरों पर विचरने के लिए विवश कर रही है। हैदराबाद की निजामशाही ने जनता के नागरिक तथा धार्मिक अधिकारों को चुनौती दी थी आर्यसमाज ने इस चुनौति को स्वीकार करते हुए अपने हजारों वीरों को इस धर्म-संग्राम में जूझने का आदेश दिया था। इन वीरों के साथ आहुति देने वालों में मैं एक सैनिक था। हिंसात्मक

संग्राम का सैनिक तलवार को तलवार से रोकता है। परन्तु, हमारा संग्राम अहिंसात्मक था। अहिंसात्मक संग्राम का सैनिक तलवार की धार पर चलता है। गुलबर्गा जेल तलवार थी। इसकी धार पर चलते हुए मैंने जो कुछ पाया, उसे अपने तक ही सीमित रखता, तो स्वार्थपरता का दोषी होता। स्वर्गीय पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी के संसर्ग से मैंने जो पाया, वह 'प्रभु-भक्ति' के रूप में आस्तिक जनता को भेंट कर दिया। इस पुस्तक का जनता ने हार्दिक स्वागत किया। अब तक इसके सात संस्करण छप चुके हैं।

'प्रभु-भक्ति' राह थी, प्रभु को पाने की। प्रभु अर्थात् अनंत, असीम, अकथ, आनंद, सुख, समृद्धि, शांति। परन्तु इन ग्यारह वर्षों में संसार आनंद तथा सुख की राह पर नहीं, क्लेश और दुःख की राह पर बढ़ा है। यह नहीं कि संसार ने आनन्द और सुख के मार्ग पर बढ़ने का प्रयत्न नहीं किया; किया। इन ग्यारह वर्षों में घटी घटनाओं को इतिहास के पन्नों से कुरेदिये तो केवल परिवर्तन ही नहीं, अनेकों महान् क्रान्तियां झांकती हुई झलकती हैं। इन ग्यारह वर्षों में तो दुनियां ही बदल गई। गुलामी की दलदल से निकल कर अनेकों देश आजादी के शिखर पर पहुंच गये। अनेकों अन्य देश अपनी स्वाधीनता खोकर पराधीनता के गढ़े में जा गिरे। राज बदले। प्रजा बदली। शासक बदले। शासित भी बदल गये। इन्हीं ग्यारह वर्षों में संसार का दूसरा महायुद्ध हुआ यह युद्ध भी एक प्रयत्न था—संसार में शांति स्थापना करने का। भौतिक-विज्ञान के पाश्चात्य-पुजारियों की अद्भुत धारणा है कि युद्ध से शांति हो सकती है। मृत्यु से जीवन मिल सकता है।

भारत में भी कुछ ऐसी ही घटना घटी। कुछ लोगों ने समझा, बटवारे से मिलाप हो सकता है और भी कुछ लोग हैं, जो सर्वनाश से नवसृष्टि की संभावना करते हैं। ये भूल कर कि वे कल तक एक दूसरे के साथी थे, उन्होंने कंधे से कंधा मिला कर एक सांझे शत्रु को पराजित किया था, वे नई गुट्टबंदियों के साथ कृत्रिम प्रलय की तैयारियां कर रहे हैं।

राह ग़लत हो, प्रयत्न अवश्य हुआ। परिणाम—"मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की!" संसार के कष्ट कम नहीं हुए। बढ़े। भुखमरी, अन्न-संकट, बाढ़ और भूकंप तो दैवी प्रकोप हैं; मानव के अपने मन में असंतोष, ईर्षा और वैमनस्य की इतनी आग धधकी कि सारा संसार इसकी लपेट में आगया। शारीरिक और आत्मिक, दोनों तरह के कष्ट बढ़ गये।

इसका कारण?

निश्चित रूप में यह कि संसार के प्रयत्न ग़लत दिशा में हैं। इन प्रयत्नों में कोई मौलिक त्रुटि है। अन्यथा इन भगीरथ प्रयत्नों के बाद, जिनके लिए मानव को इतना अधिक मोल चुकाना पड़ा, संसार में शांति हो जानी चाहिए थी। मैंने इस बात पर विचार किया। विचार करते हुए मैंने अनुभव किया कि सही मार्ग खोजने के लिए, जिस तप की आवश्यकता है, मुझ में उसकी कमी है। तब मैंने सन्यास लेने का निश्चय किया। पिछले बरस के आखिरी महीने की पहली तारीख को दर्शनाचार्य श्री स्वामी आत्मानंद जी महाराज के आश्रम यमुनानगर, जगाधरी में पहुंच कर मैंने धन, यश और परिवार की इच्छा को त्याग कर संन्यास की दीक्षा ले ली और आत्म-दर्शन तथा

आत्मचिंतन के लिए देहरादून से तीन मील के अन्तर पर नाला पानी के घने जंगल 'तपोवन' में जा बैठा। इस घने जंगल में मैंने पहले भी कई बार साधना की है। इस बार एक दृढ़-संकल्प के साथ मैं साधनालीन हुआ। छः महीने तक निरन्तर साधना करते हुए मैंने देश की वर्तमान अवस्था का अध्ययन एवं मनन किया। देश के बाहर भी निगाह दौड़ाई। आर्यसमाज सनातनधर्म, कांग्रेस, हिंदू महासभा, समाजवादी दल, साम्य-वादी दल, आदि सभी आंदोलनों तथा विचारधाराओं का विश्लेषण किया। संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियों—अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, आदि के कार्यक्रमों को तर्क के तराजू पर तोला और बुद्धि की कसौटी पर परखा। सभी का ध्येय एक है—संसार में शांति का राज्य हो। इसी कामना से सभी प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु सफलता किसी को भी नहीं मिल रही। यदि कभी क्षणिक सफलता मिलती भी है, तो असफलता के दुर्गन्धियुक्त कीचड़ से लतपथ। क्या संसार में सफलता मिल नहीं सकती? क्या संसार दुःख का दूसरा नाम है? क्या सुख और शांति काल्पनिक-जगत के स्वप्न-मात्र हैं?

ज्ञान के अपूर्व भण्डार उपनिषदों के ग्रंथकार ऋषियों का, जिन्होंने संसार की समस्त उलझनों को सुलझाया है, कहना है कि इस सृष्टि का रचने वाला आनन्दस्वरूप भगवान् है। उसके घर में आनन्द ही आनन्द, मोद-प्रमोद और उल्लास ही उल्लास है। खुशियाँ ही खुशियां। तब आनन्दमय भगवान् की इस सृष्टि में करुणाक्रन्दन, रौरव-रुदन और हाहाकार क्यों है? कष्ट और क्लेश क्यों है? अच्छे लोगों के पुरुषार्थ भी सफल क्यों नहीं होते?

यह प्रश्न निरन्तर मेरे मन में था। तब भी जब मैं साधना में रहता और तब भी जब मैं शास्त्रों का मनन करता। मैं वेद, उपनिषद्, दर्शन सभी के मन्त्रों तथा सूत्रों में इस प्रश्न का उत्तर खोजता रहा। तपोवन में श्री पण्डित रामावतार जी वेदतीर्थ से मैंने योग-दर्शन पढ़ा। ऋषिकेश में श्री स्वामी ब्रह्मचारी चैतन्यस्वरूप के चरणों में सांख्यकारिका का अध्ययन किया। सागर तल से दस हजार फुट की ऊंचाई पर गंगोत्तरी में योगनिष्णात योगिराज ब्रह्मचारी स्वामी व्यासदेवजी की पवित्र वाणी से सांख्य-दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। इन सब अवसरों और स्थानों पर मेरे मन में यही प्रश्न गूँजता रहा। मैं इसी उलझन को सुलझाने में लगा रहा। हर बार, हर जगह, हर पुस्तक में, एक ही उत्तर मिला—आत्म-दर्शन तथा प्रभु-दर्शन के बिना लोक-सेवा अथवा विश्व-कल्याण के सब प्रयत्न असफल रहेंगे!

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्यसमाज के नियमों में आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य संसार का उपकार करना बतलाया है। इसका साधन भी उन्होंने बताया—"शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" आर्यसमाज के नेताओं तथा सेवकों ने शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न किये। समाज सुधार तथा देश-उद्धार की अनेकों योजनाएं बनाईं। राष्ट्र-निर्माण के लिए गुरुकुल, कालिज, स्कूल, पाठशालायें, अनाथालय, विधवा-आश्रम, शिल्प-विद्यालय खोले। पीड़ितों, दलितों की सहायता का काम किया। बड़े लोगों ने पूर्ण त्याग करके अपने जीवन इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगा दिये। धन्य हैं वे लोग, जिन्होंने समाज तथा देश सेवा में

जीवन-आहुतियां दे डालीं। इस मार्ग पर बढ़ते हुए यदि राह में अंग्रेजों के बिछाए कांटे भी आये तो निर्भयता से आगे बढ़ते रहे। चिन्ता नहीं की। यदि किसी ने छुरे, लाठी पिस्तौल, से प्राणों का अन्त कर दिया, तो भी परवाह नहीं की। ७६ से अधिक महानुभावों ने इसी प्रकार अपने जीवन-प्राणों की आहुति दे डाली। उन शहीदों और सेवकों की स्मृति में माथा अपने आप झुक जाता है। परन्तु, इस शारीरिक और सामाजिक उन्नति के साथ यदि आत्मिक उन्नति की ओर भी इतना ही ध्यान दिया जाता, तो आज जो असन्तोष, उदासीनता और निराशा दिखाई देती है, यह दिखाई न देती। आत्मिक उन्नति से जो सफलता प्राप्त हो सकती थी, वह भी प्राप्त हो जाती। महर्षि ने तो सामाजिक उन्नति का कार्य तीसरे स्थान पर रखा था और आत्मिक उन्नति को दूसरा स्थान दिया था; परन्तु, आर्य कार्यकर्ताओं ने आत्मा की ओर अधिक ध्यान न देकर, सामाजिक कार्यों ही की ओर अधिक ध्यान दिया। क्रम-विरुद्ध कार्य करने का जो परिणाम हो सकता था, वही हुआ। आर्यसमाज के प्रयत्नों से शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति तो कुछ हो गई; परन्तु ध्येय प्राप्त न हो सका। मानव अशांत ही रहा।

यही अवस्था देश की सब से बड़ी राजनैतिक संस्था 'इण्डियन नैश्नल कांग्रेस' की हुई। कांग्रेस ने देश को सुखी बनाने के लिए बहुत बड़े आंदोलन को जन्म दिया। कांग्रेस का उद्देश्य आजादी प्राप्त करना था। आजादी अर्थ-हीन है, यदि उस से देश सुखी न हो। आजादी प्राप्त करने के लिए भारत के सभी लोगों ने बड़े-बड़े, बलिदान दिये। स्वतन्त्रता के तुमुल-संग्राम में नवयुवक फांसी के

रस्सों पर झूल गये। देवियों ने अपने पतियों की आहुतियां देकर अजीवन घोर यातनाएं सहन कीं। बच्चों और बूढ़ों ने कष्टों तथा विपत्तियों को निमंत्रण दिया। सहस्रों देशवासी इस राह पर चलते-चलते मौत की नींद सो गये। अपना सर्वस्व लुटा बैठे। यद्यपि हमारा संग्राम प्रायः अहिंसात्मक था, तथापि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हमें किसी देश से कम बलिदान नहीं देने पड़े। अंतिम बलिदान तो महान् था, जिस का उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। गुलामी से छुटकारा पाने के लिए एक करोड़ ५० लाख लोग उजड़-उखड़ गये। हजारों आततायियों के हाथों मारे गये। माताओं और बहनों की लाज लुटी। जीवन भर की कमाई खत्म हो गई। परन्तु, जब देश स्वतन्त्र हुआ तो देश पहले से भी अधिक दुखी हो गया। भारत का सौभाग्य है कि उसे इतने अच्छे नेता मिले। इन नेताओं को संसार भर में मानता है, परन्तु, हमारा देश इतना दुखी हो गया है कि वह इन नेताओं पर भी अविश्वास करने लगा है। हमारे नेता दिन रात प्रयत्न कर रहे हैं कि दुःख और असन्तोष की मात्रा कम हो जाये। उजड़े-उखड़े लोग बस जायें उपद्रव रुक जायें। अनाज की कमी दूर हो जायें। उलझनें सुलझ जायें। परन्तु, निरर्थक, सफलता की बजाय असफलता ही मिल रही है। इसका कारण यह है कि उन्होंने सुख के स्रोत प्रभु को सर्वथा भुला दिया है।

संसार में अनेकों, विचार-धारायें सफलता प्राप्त करने की चेष्टा कर रही हैं। पूञ्जीवादी और वर्गवादी दोनों एक दूसरे से पहले सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। इस होड़ में वे अपना सब कुछ दाँव पर लगा रहे हैं। क्या उन्हें सफलता मिल रही है? नहीं। वे तो अपनी ही पैदा की हुई उलझनों में उलझ कर

रह गये हैं। उनकी दृष्टि केवल प्रकृति (माया) की ओर है। आत्मा की ओर उनका ध्यान ही नहीं। केवल प्रकृति का पुजारी, संसार को सुखी नहीं कर सकता। अतः वह भी नहीं कर सके।

देश में अथवा विदेश में, इस समय जितने भी बड़े-बड़े आंदोलन हैं, उन का ध्यान केवल शरीर की ओर है। आत्मा की उन्होंने सर्वथा अवहेलना की है। यही कारण है कि इतने पुरुषार्थ और परिश्रम के बाद भी संसार की नैया दुःख के सागर में डोल रही है। इस मौलिक-तथ्य की ओर लगभग सभी उपनिषदों में अनेक स्थलों पर बार-बार संकेत किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं :—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद् भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः, अथ य एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥

(३।८।१०)

"हे गार्गि! जो इस अक्षर (अविनाशी परब्रह्म परमात्मा) को जाने बिना इस लोक में होम करता है, यज्ञ करता है (परोपकार में तत्पर होता है) वा तप तपता है, (दुनिया के कल्याण या अपने लिए कष्ट सहन करता है) वह चाहे सहस्र वर्ष ऐसा करता रहे, पर वह सब कुछ इस का अन्त वाला ही होता है। जो इस अक्षर (आत्मा) को जाने बिना हे गार्गि! इस दुनिया से चल देता है, वह कृपण (दया का पात्र) है। हां, जो इस अक्षर (आत्मा) को जान कर हे गार्गि! जो इस दुनिया से चलता है, वह सच्चा ब्राह्मण (विद्वान) है।"

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की इसी उपनिषद् में आदेश दिया गया है :

"जो अपनी असली दुनिया (आत्मा) को देखे बिना, इस दुनिया से चल देता है, तब वह दुनिया (आत्मा) इसको अपने भोग नहीं भुगाती। जैसे वेद बिना जाने वा और कोई कर्म बिना किये (अपना फल नहीं भुगाता) और कि इस (आत्मा) को न जानने वाला यदि बहुत बड़ा पुण्य कर्म भी करे, तो वह उसको अन्ततः क्षीण हो जाता है (नष्ट हो जाता है) सो चाहिये कि आत्मा ही को अपना असली लोक समझ कर उपासे। वह जो आत्मा को ही अपना असली लोक समझ कर उपासता है, उस का कर्म (पुण्य, पुरुषार्थ, तप, यज्ञ, परोपकार, राजनीति अथवा धार्मिक कार्य) क्षीण नहीं होता, क्योंकि वह इसी आत्मा से जो-जो चाहता है रच लेता है।" (१—४—१५)

इसी प्रकार की बात छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति ने कही है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में इसी तथ्य को अत्यन्त सुन्दर और कवितामय ढंग से वर्णित किया गया है। कहा है :

यदा चर्मवदाकाशं, वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय, दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

(६—२०)

जब लोग चमड़े की तरह आकाश को लपेट सकेंगे, तब परमात्मा को न जान कर भी दुःख का अन्त हो सकेगा।"

जिस तरह यह असम्भव है कि आप आकाश को चटाई या चमड़े की तरह लपेट लें, उसी तरह यह भी असम्भव है कि प्रभु-दर्शन के बिना दुःखों का अन्त हो जाये। परन्तु दुनिया आज

आकाश को चटाई और चमड़े की तरह अपने शरीर के गिर्द लपेटने का प्रयत्न कर रही है। आत्मा को भुलाकर अनात्म वस्तुओं के पीछे भाग रही है। माया ने मानव को अंधा कर रखा है। भ्रमजाल इतना गहरा है कि उस में सुविचार और सुपथ उलझ कर रह गये हैं।

हम सफलता चाहते हैं; परन्तु सफलता की कुञ्जी की ओर ध्यान नहीं देते। हम शांति चाहते हैं, परन्तु शांति के आधार को भुला दिया है। सफलता और शांति के वास्तविक साधन आत्म-दर्शन को भूल कर हम अन्य साधनों में व्यस्त हैं। यही कारण है कि इतने परिश्रम और पुरुषार्थ के बावजूद हम इस ध्येय से कोसों दूर हैं। न केवल दूर हैं, अपितु मार्ग से भटक गये हैं। शांति के नाम पर भीषण विनाशकारी शस्त्रास्त्र तैयार कर रहे हैं। संसार के समस्त वैज्ञानिकों का कुल विज्ञान, और ज्ञान इस प्रयत्न में खर्च हो रहा है कि कम से कम समय में अधिक से अधिक प्राणियों का संहार हो सके। जो देश अपने आपको आधुनिक काल में सभ्यता और विज्ञान के नेता समझते हैं; वे देश भी आत्मा से विमुख होने के कारण अशांति, दुःख और कष्ट-क्लेश का कारण बन रहे हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है :—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥

(गीता २—६६)

"जिसकी बुद्धि प्रभु से युक्त नहीं है; ऐसे अयुक्त पुरुष के मन में स्थिरता नहीं होती। और जिसका मन अशांत है, उसे सुख कहां ?"

केवल स्थिर-शान्त मनवाला व्यक्ति ही सुख लाभ नहीं करता, अपितु समाज, राष्ट्र, देश और समूचे संसार के लिए भी आवश्यक है कि वह सुख लाभ के लिए स्थिरता और शान्ति लाभ करे। जिन राज्यों में अस्थिरता है, अशान्ति है, असन्तोष है, वे न तो उन्नति कर सकते हैं और न सुख पा सकते हैं। यह तत्व है सफलता और शान्ति का। इस तत्व को जाने बिना समाज-सेवा, देश-सेवा, राष्ट्र-सेवा, परिवार-सेवा कोई भी काम कर लीजिये, आपको कभी सिद्धि प्राप्त न होगी। अपने अनुभव के आधार पर मेरा यह अटल-विश्वास है कि आत्म-दर्शन तथा प्रभु-दर्शन के सिवा सुख और शान्ति का और कोई मार्ग नहीं है।

आत्म-दर्शन का महत्व और उसकी अनिवार्य आवश्यकता महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में वर्णन की है। महर्षि अपने इस महान् ग्रन्थ के छठे समुल्लास में लिखते हैं:—

'(राज्य के) सब सभासद् और सभापति (मन्त्री और प्रधान मन्त्री) इन्द्रियों को जीतने अर्थात् अपने वश में रख के सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से हटे रहें। इसलिए रात दिन *नियत समय में योगाभ्यास* भी करते रहें, क्योंकि जो जितेन्द्रिय अपनी इन्द्रियों [जो मन, प्राण और शरीर रूपी प्रजा है इस] को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।"

स्पष्ट शब्दों में ऋषि ने राजनीति में भाग लेने वालों, राज्य-मन्त्रियों, प्रधान-मन्त्रियों और राष्ट्रपति को भी आत्मदर्शी, योगाभ्यासी तथा जितेन्द्रिय होने का आदेश दिया है। आज भारत स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र देश सुखी होना चाहिये; परन्तु

इसकी दुख की मात्रा कुछ बढ़ ही गई है। यदि राज्य कर्म-चारी योगाभ्यासी और प्रभु के प्यारे हों, तो फिर यहाँ वास्तविक रामराज्य स्थापित हो सके। अभी तो सब लोग माया के पीछे भाग रहे हैं। उन्हें केवल शरीर का ध्यान है। आत्मा लोप हो गया है। महाभारत के शान्ति पर्व के उनत्तीसवें अध्याय में रामराज्य का जो वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है:—

> विधवा यस्य विषये नानाथाः कश्चिनाभवन्।
> सदैवासीत्पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात ॥५२॥
> कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
> नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५३॥
> प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
> रुजा भयं न तत्रासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५४॥

"श्री रामचन्द्र जी के राज्य शासन में कोई स्त्री विधवा नहीं थी। कोई अनाथ न था। समय पर वर्षा होती थी। अन्न भी यथासमय होते थे। उनके राज्य में किसी प्रकार का दुर्भिक्ष नहीं हुआ। किसी की पानी में डूब कर वा आग में भस्म होकर मृत्यु न होती थी और न किसी अन्य प्रकार का रोग फैलता था।"

इस का मूल कारण यही था कि भगवान् राम के राज्य में ब्रह्म-ज्ञानी, योगाभ्यासी आत्मदर्शी अविकारी राज्य-प्रबन्ध करते थे।

इसी प्रकार छांदोग्य उपनिषद् में केकय प्रदेश के राजा अश्वपति का वर्णन आता है, जिससे ब्राह्मण और ऋषिलोग परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आते थे। वह ब्रह्म-ज्ञानी आत्मदर्शी राजा अश्वपति घोषणा करता है:—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥
[५—११—५]

"मेरे देश में कोई चोर नहीं, कोई कंजूस नहीं, शराब पीने वाला नहीं, अग्न्याधान [प्रतिदिन हवन यज्ञ के लिए घर में अग्नि की स्थापना] से शून्य कोई नहीं, विद्या से हीन नहीं, व्यभिचारी नहीं, व्यभिचारिणी स्त्री कहां ?"

उद्देश्य हमारा भी यही है कि हमारे देश में ऐसी ही व्यवस्था स्थापित हो जाये कि कोई चोर हो न कंजूस, कोई शराब पीने वाला न हो, न व्यभिचारी; परन्तु, हम वह साधन अपनाने से कतराते हैं, जिनके द्वारा भगवान् राम और राजा अश्वपति ने धरती पर स्वर्ग बना दिया था। यह व्यवस्था आत्मदर्शी और योगाभ्यासी शासकों के शासन में ही हो सकती है। यह एक अनुभूत प्रयोग है। इस नुस्खे का हमारे पूर्वजों न केवल आविष्कार ही नहीं किया, अपितु समाज और शासन की प्रयोगशाला में इसका सफल प्रयोग भी किया। तब क्या अब भी यह आवश्यक नहीं कि इधर उधर भटकने की बजाय सिद्धि और सफलता के इस निश्चित मार्ग को अपनाया जाये ?

यह अनुभूत प्रयोग केवल शासकों के लिए ही नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति के लिए है। आप कोई भी काम करते हों, व्यापारी हों या ठेकेदार, मिल मालिक हों या मजदूर, रेल के बड़े अधिकारी हों या स्टेशन के कुली, सम्पादक हों या वकील, जमींदार हों या किसान, सेना में हों या सिविल विभाग में, धनी हों या निर्धन, कुछ भी हों, कहीं भी हों, किसी भी अवस्था में हों —बाल, युवक, वृद्ध सभी स्त्री-पुरुषों के लिए मनोरथ-

प्राप्ति का यही एक मार्ग है। जीवन-संग्राम में विजयी होने का इससे बेहतर और कोई अस्त्र नहीं है। आत्मदर्शी की विजय क्षणिक नहीं होती, स्थायी और सच्ची होती है।

आज से ग्यारह वर्ष पहले मैंने "प्रभु-भक्ति" के मार्ग की ओर संकेत किया था। आज उसी क्रम की दूसरी कड़ी "प्रभु-दर्शन" भेंट कर रहा हूँ। यह पुस्तक लिखने का केवल मात्र उद्देश्य यही है कि संसार और समाज का ध्यान उस तत्व की ओर आकर्षित किया जा सके, जिसमें सफलता और शांति का रहस्य निहित है। मेरी निश्चित धारणा है कि यह लोक-परलोक दोनों को सुधारने वाला है। सारे कष्ट-क्लेशों को काट कर सुख और समृद्धि का देने वाला है। संसार नास्तिकता के गहरे गढ़े की ओर अग्रसर हो रहा है। इससे बचने का एक ही मार्ग है कि हाथ में आत्म-दर्शन और प्रभु-दर्शन की प्रकाश-ज्योति थाम ली जाय। ऋग्वेद (१।२।४।२०) में कहा है :

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋ० १।२२।२०)

"उस व्यापक परमेश्वर के श्रेष्ठ रूप को ज्ञानी पुरुष सदैव देखते हैं, जैसे द्युलोक में व्याप्त सूर्य को देखते हैं।"

यदि कुछ व्यक्ति भी इस प्रकाश को ग्रहण कर सकें तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

यह पुस्तक लिखने में मैंने निम्नलिखित पवित्र ग्रन्थों तथा पुस्तकों से सहायता ली है। इनका मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

१. चारों वेद
२. ईशोपनिषद्
३. प्रश्न उपनिषद्
४. कठ उपनिषद्
५. मुण्डक उपनिषद्
६. ऐतरेय उपनिषद्

७. तत्तिरीय उपनिषद्
८. छान्दोग्य उपनिषद्
९. बृहदारण्यक उपनिषद्
१०. श्वेताश्वेतर उपनिषद्
११. महोपनिषद् ।
१२. मनुस्मृति
१३. सांख्य-दर्शन
१४. महाभारत
१५. योग-दर्शन
१६. गीता
१७. देवी भागवत
१८. सत्यार्थप्रकाश
१९. ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका
२०. शतपथ ब्राह्मण ।
२१. उपनिषदों की भूमिका
२२. उपनिषदों की शिक्षा
२३. वेद रहस्य
२४. वेद सार
२५. स्वाध्याय यज्ञ
२६. वैदिक वीर गर्जना
२७. ओंकार-निर्णय
२८. पीस पावर एण्ड प्लैंटी (अंग्रेजी)
२९. महा निर्वाण तन्त्र
३०. योग वासिष्ठ
३१. सावित्री-प्रकाश
३२. आर्य-जीवन
३३. दिव्य-जीवन
३४. पंचदशी

अन्त में मैं प्रभु और गुरुचरणों में प्रणाम करता हूं, जिनकी कृपा और सहायता से यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है।

आनन्दस्वामी सरस्वती

योग-निकेतन,
गंगोत्तरी
भाद्रपद कृष्णजन्माष्टमी २००७

—❀—

❀ ओ३म् ❀

दूसरा सँस्करण

—❀—

"प्रभु-दर्शन" का दूसरा संस्करण प्रकाशित करने के लिए धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशक श्री गोविन्दराम हासानन्द ने उत्कट इच्छा प्रकट की, और मैंने उनकी इस इच्छा को पूर्ण करने के लिए सहर्ष स्वीकृति दे दी। परन्तु मैंने पुस्तक का संशोधन आवश्यक समझा। जब संशोधन प्रारम्भ किया, तो कितने ही स्थलों पर नये अनुभव और नया लेख लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब इस आवश्यकता को भी पूर्ण किया गया। दूसरे संस्करण का पाठ करने वाले देखेंगे, कि अब यह पुस्तक पहले से भी अधिक उपयोगी हो गई है। प्रभु ऐसी कृपा करें कि "प्रभु-दर्शन" के पाठकों को अधिक शक्ति तथा भक्ति प्राप्त हो।

कृष्णजन्माष्टमी २००६ — आनन्दस्वामी सरस्वती

तपोवन देहरादून

अग्ने आजिष्ठमाभर द्यु म्नमस्मभ्यमाध्रिगो ।

(साम० पू० १—२—६—१)

प्रकाशस्वरूप प्रभु । पथप्रदर्शक प्रभु !

हमें ओज और तेज से पूर्ण ज्ञानमय विचार-धारा का धन दो।

[२]

दृढ़ संकल्प

—:o:—

संकल्प की शक्ति महान् है।

यदि संकल्प दृढ़ हो तो यह शक्ति अजेय है। यदि संकल्प सत्य और शिव भी हो, तो करबद्ध सफलता चरण चूमती है। संकल्प और तद्वत् कर्म मानव को संसार का स्वामी बना देते हैं। शांडिल्य ऋषि के शब्दों में 'क्रतु मयः पुरुषः' और 'कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते !' अर्थात् पुरुष अपने इरादों का बना हुआ है और अपने ही रचे हुए इस संसार में पुरुष जन्म लेता है। पिप्पलाद ऋषि का भी यही कथन है। प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न के उत्तर में ऋषि कहते हैं :

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः

सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति ॥ [३—१०]

"यह आत्मा जिस संकल्प वाला होता है, उस संकल्प के साथ मुख्य प्राण में स्थिर हो जाता है। मुख्य प्राण तेज से युक्त हो, मन इन्द्रियों से युक्त (जीवात्मा को) उस के संकल्पो के अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों अथवा योनियों को ले जाता है।"

गीता का भी यही आदेश है कि अंत समय आत्मा का जैसा संकल्प होता है, इस का मन जिस भाव का चिंतन करता है, वह वैसे ही संसार को प्राप्त कर लेता है।

संकल्प अर्थात् धारणा, विचार, भावना। जैसे आप के मन के विचार और भावनाएं हैं, आप का वातावरण वैसा ही बनता चला जायेगा। यह वातावरण आप के जीवन को, आप के परिवार को, आप के समाज और देश को, राष्ट्र और संसार को विशेष सांचों में ढाल देता है। आखिर वह सब कुछ क्या है? कुछ संकल्प। कुछ विकल्प। संकल्प-विकल्प के अनुरूप आप प्रभावित होते हैं। आप के सम्बन्धी और मित्र प्रभावित होते हैं। यदि आप के संकल्प में पवित्रता, आशा, उल्लास, प्रेम, प्रसन्नता, और उत्साह और आत्म-विश्वास की भावनाएं हैं, तो आप के अपने चारों ओर आप को यही कुछ दिखाई देगा। आप का वातावरण इन्हीं सांचों में ढलेगा। यदि आप के संकल्प में नीचता, निराशा, घृणा, चिन्ता, रोग, वैमनस्य, शत्रुता और निरुत्साह की भावनाएं हैं, तो लाख प्रयत्न करने पर भी आप इन्हीं से घिरे रहेंगे।

केवल प्रभु-प्रदर्शन के लिए हीं नहीं किसी भी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि संकल्प दृढ़, सत्य और शिव हो। मेरा विश्वास है कि जिस का मन रोगी नहीं,

उस का तन कभी रोगी नहीं होता। जिस का मन हंसता है, उस के होंट कभी नहीं रोते। तन बड़ा दीखता है, परन्तु मन बहुत बलवान है। अस्वस्थ तन में स्वस्थ मन तो रह सकता है। परंतु अस्वस्थ मन तन को कभी स्वस्थ रहने नहीं देता। छांदोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि दृढ़ संकल्प वाला पुरुष ११६ वर्ष तक जीवित रह सकता है। इसका कोई गूढ़ रहस्य नहीं, साधारण ज्ञान है कि पुरुष अपने आप को यज्ञ रूप बनाने का दृढ़ संकल्प करे। वह यज्ञरूप बन जाये। पुरुष यज्ञ ही तो है। "पुरुषो वाव यज्ञः।" अपने आप को यज्ञरूप समझ कर पुरुष संकल्प करे कि जब तक जीवन का यज्ञ पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक मैं रोगी नहीं होऊंगा। दुःखी नहीं होऊंगा। ऐसे दृढ़ संकल्प वाले पुरुष के समीप रोग और दुःख क्या, मृत्यु भी नहीं आती। इन सब को परास्त कर वह यज्ञ को पूर्ण कर लेता है। यह कोरी कल्पना ही नहीं, इतिहास की एक घटना है। महिदास ऐतरेय को भीषण रोग ने आ दबाया। उस का तन रोगी हो गया, परन्तु मन स्वस्थ रहा। उसने रोग को चुनौती दी। कहा:—

"स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति"

"रे रोग! क्या तू मुझे तपा रहा है? मैं इससे नहीं मरूंगा" और वह नहीं मरा। ११६ वर्ष तक जीता रहा। यह मार्ग बन्द नहीं हुआ, अब भी खुला है। जो व्यक्ति ११६ वर्ष तक सुखी और संतुष्ट जीवन बिताना चाहता है, वह इस मार्ग पर चले। वह सत्य, शिव और सुन्दर संकल्प करे।

परन्तु, आजकल संसारी लोगों की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। चिंता, रोग, ईर्षा, द्वेष तथा अन्य नीच संकल्पों ने जन-समुदाय को घेर रखा है। यही कारण है कि रोग उत्तरोत्तर

बढ़ रहे हैं। विज्ञान नित्य नये आविष्कार करता है। भीषण से भीषण रोगोंका इलाज खोजता है। तो भी रोग कम नहीं होते। बढ़ते ही जाते हैं। यही अवस्था अन्य व्याधियों की है। जितने इलाज खोजे जाते हैं, उतनी ही व्याधियां बढ़ जाती हैं। इसका सब से बड़ा कारण संकल्प की अपवित्रता, भावना की अशुद्धता है। और यह आधुनिक सभ्यता की देन है। अमेरिकन लेखक श्री ओरिसन स्वेट मार्डन ने लिखा है कि आधुनिक सभ्यता ने, जिसे 'हायर सिविलाइजेशन' कहा जाता है, सब से बुरी बात यह की है कि मानव के उस पवित्र विश्वास की हत्या कर दी है, जिसके द्वारा रोगों को दूर रखा जा सकता था। अब बड़े-बड़े नगरों में लोग बीमारियां लाने की तैयारियां करते हैं और 'वे इनकी आशा रखते हैं, प्रतीक्षा करते हैं, और आखिरकार रोग आ ही जाते हैं।"†

रोग रोकने का सबसे बड़ा साधन यही है कि रोग के विचार को मन में न आने दिया जाये। स्वस्थ विचार संसार की अमूल्य संपत्ति हैं। स्वस्थ रहने के लिए सब सें बड़ा और अचूक साधन यही है कि मन को अपवित्र संकल्पों से शुद्ध रखो। यह एक ऐसी औषधि है, जिससे भयंकर रिसते घाव भी भर सकते हैं। दूषित भावना और मानसिक चिन्ता अनेकों रोगों का कारण बनती हैं। डाक्टर स्नो लिखते हैं:—

"जिन लोगों को कैंसर हुआ, उनके सम्बन्ध में अन्वेषण करने से पता लगता है कि अत्याधिक रोगियों की अवस्था मे, विशेषतया उन रोगियों की अवस्था में, जिन्हें वक्षस्थल अथवा

† They expect it, anticipate it and consequently have it.

मूत्राशय में कैंसर के रोग से पीड़ित होना पड़ा, कैंसर का असल कारण मानसिक चिन्ता तथा व्याकुलता थी। डा० चर्टन ने 'ब्रिटिश मैडीकल जर्नल' में अपने अन्वेषण की घोषणा करते हुए स्पष्टतया लिखा है कि 'चिन्ता से पाण्डुरोग का उत्पन्न होना निश्चित-सा ही है एक और योग्य डाक्टर श्री मर्चीसन कहते हैं— जब कभी मैं देखता हूं कि जिगर में कैंसर होने वाले कितने ही रोगियों के रोग का वास्तविक कारण उन का बहुत देर तक दुख तथा चिन्ता के सागर में डूबे रहना है, तो मुझे आश्चर्य होता है। इतने अधिक रोगियों की अवस्था में मैंने यह बात देखी है कि इसे केवल इत्तिफाक (अनुरूपता) का नाम देना उचित नहीं है।''''''भावातिरेक का मनुष्य के चमड़े पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ता है।"†

सर बी० डब्ल्यू० रिचर्डसन अपनी पुस्तक "फील्ड आफ डिजीसिज" में लिखते हैं—मानसिक उद्वेग तथा चिन्ता के बाद प्रायः चमड़े पर फून्सियां निकल आती हैं। ऐसी सभी अवस्थाओं में तथा कैंसर, मिरगी, और पागलपन की हालत में मानसिक वातावरण पहले से ही मौजूद रहता है। आश्चर्य की बात कि

† The most majority of cases of cancer, especially of heart and uterine, cancer, are due to mental anxiety, is reported by Dr. Churton in the British Medical journal. Dr. Murchison, an eminent authority says, 'I have been surprised, how often patients with primary cancer of the liver, have traced the cause of their ill-health to protracted grief or anxiety. The cases have been far too numerous to be accounted for as mere coincidences. The function of the skin are seriously affected by the emotions'".

शारीरिक रोगों के मानसिक कारणों का सुचारु रूप से अध्ययन करने की चेष्टा अभी तक नहीं की गई।"†

यह तस्वीर का एक रुख है। इसका दूसरा रुख भी है, जहाँ शुभ और सुखद संकल्पों ने जीवन को हर्ष और उल्लास से भरने के अतिरिक्त शक्तिशाली और विशेष बलयुक्त भी बनाया। इस सम्बन्ध में डाक्टर मार्डेन लिखते हैं:—

"कितने ही अन्वेषणों में असंदिग्ध रूप से यह बात प्रमाणित हुई है कि मानव शरीर के सकल जीवन तन्तुओं को स्वास्थ्यवर्धक आशामय, आह्लादकारक, प्रोत्साहक, उन्नतिशील, आशावादी और प्रसन्नतामय विचारों से इतनी सहायता मिलती है, जितनी और किसी बात से नहीं। इस प्रकार के विचार जीवन तंतुओं को पैदा करते हैं। इन से उलटे प्रकार के विचार इन तन्तुओं का नाश करते हैं। मनुष्य अपने शरीर के लिए यदि सब से बड़ा कोई काम कर सकता है, तो यह कि इन जीवन तन्तुओं को अधिकाधिक सबल बनाये रखे। ऐसा करने से वह स्वस्थ रहेगा। और पूर्णतया स्वस्थ होने पर वह धार्मिक सत्यवादी, ईमानदार, वफादार और महान होगा।"‡

---

† Sir B.W. Richordson, in his work "The Field of Diseases' says "Eruptions on the skin will follow excessive mental strain. In all these and in cancer, epilepsy and mania from mental causes, there is a predisposition. It is remarkable how little the question of the origin of physical disease from mental influences has been studied"

‡ Innumerable experiments have established the fact that all healthful, hopeful, joyous, encouraging, uplifting, optimistic, cheerful thoughts improve the cell life of the

मन का तन पर कितना प्रभाव है और किस तरह चिन्तित मन जीवन की समस्त शक्ति को हर कर नष्ट कर देता है, इसके सम्बन्ध में वही अमेरिकन लेखक लिखते हैं:—

"चिन्ता से न केवल शरीर की शक्ति का ह्रास तथा मानवशक्ति का नाश होता है, प्रत्युत इससे मनुष्य का कियां हुआ कार्य भी निचले दर्जे का होने लगता हैं। यह मनुष्य की योग्यता को कम कर देती है। अपने काम को वह सम्पूर्ण सुचारु रूप से नहीं कर पाता, जब उसका मन क्षुब्ध तथा चिंतित हो। मन अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा योग्यता दे सके—इस से पहले आवश्यक है कि वह दुखों, चिंताओं, विकारों तथा क्षोभों से स्वतन्त्र हो। चिंतित मस्तक कभी ठीक तरह नहीं सोचता, शक्ति के साथ नहीं सोचता, न्याययुक्त नहीं सोचता। पाचनेंद्रियों पर तो चिंता तथा क्षोभका इतना प्रभाव पड़ता है कि देख कर के आश्चर्य होता है और जब पाचनेंद्रियों में गड़बड़ होती है, तब सारे शरीर का प्रबन्ध ही अस्त-व्यस्त होने लगता है। चिन्ता से न केवल स्त्रियां बूढ़ी-सी दिखाई देने लगती हैं, प्रत्युत सच मुच ही बूढ़ी हो जाती हैं।"†

---

entire body. They are creative, while the opposite thoughts are destructive of cell life......The greatest work a human being can do is to keep his entire cell life in the superbest possible condition. Then he will be absolutely normal; and when normal he will be right, truthful, honest, sincere, noble".

†"Worry not only saps vitality and wastes energy, but it also seriously affects the quality of one's work. It cuts down ability of efficiency into his work when his mind is

इन तथ्यों से प्रेरित होकर डाक्टर मार्डेन ने यथार्थ लिखा है कि—"यदि कोई आदमी संसार में चिंता को नष्ट करने का मार्ग ढूंढ़ ले,तो वह संसार का इतना कल्याण करेगा, जितना कि आज तक कोई भी अन्वेषक तथा आविष्कारक नहीं कर सका। मानव मस्तिष्क उस सर्वनाश को मापने में असमर्थ है, जो संसार में चिंता के कारण प्रतिक्षण हो रहा हैं।"†

डाक्टर मार्डेन का विचार मिथ्या नहीं है। सांसारिक लोगों का सब से बड़ा उपकारक और कल्याणकारक वही है, जो इन विपद्ग्रस्तों को चिंता के कीचड़ से निकाल कर आशा और आह्लाद से भी सुन्दर और सुरभित वाटिका में ला खड़ा करे। मानव अपनी हानि अपने ही हाथों करता है। स्वयं अपने पांव पर कुल्हाड़ा चलाता है। पहले मन में चिंता को जन्म देता है। फिर स्वयं ही इस पैशाचिनी के चंगुल में फंस कर रोने लगता है। यदि वह अपने मनमें बुरे संकल्प न करे, कुविचारों को पास न आने दे, तो इस चिंता डायन की क्या मजाल

---

rtoubled. The mental faculties must have perfect freedom before they will give out their best. A troubled brain cannot think clearly, vigorously and logically. The digestive organs are extremely sensitive to worry and when the digestion is interfered with, the whole physical economy is thrown into disorder. ...Worry not only makes a woman look older, but actually makes her older."

†"One who could rid the world of worry would render greater service to the race than all the inventors and discoverers that ever lived. No human intellect can estimate the unutterable havoc and ruin wrought by worry."

कि इधर झांक भी जाये। तनिक इस अनुभूत नुस्खे का प्रयोग तो करके देखिये। फिर अनुभव कीजिये कि यह आपको कितनी ऊंचाइयों पर ले जाता है।

डाक्टर मार्डन ने अपनी पुस्तक 'पीस पावर एण्ड प्लैंटी' (शांति.शक्ति और बाहुल्य) में एक घटना का उल्लेख किया है, जो कि इस सिद्धांत का ज्वलंत उदाहरण है। एक गांव में एक बूढ़े पादरी रहते थे। उन्होंने अपने बत्तीस के बत्तीस दांत निकलवा कर नकली दांत लगवा रखे थे। रात को सोते समय वह दांत उतार कर पलंग के पास तिपाई पर रख देते और प्रातः उठ कर लगा लेते। यह उनका स्वभाव ही हो गया था। एक दिन प्रातःकाल उठे तो उन्हें अपने पेट में हलकी-हलकी पीड़ा का आभास हुआ। स्वभाव के अनुसार उनके हाथ तिपाई की ओर बढ़े कि दांत लगा लें, परन्तु वहां दांत नहीं थे। तिपाई के ऊपर-नीचे इधर-उधर देखा, सिरहाना भी उलट-पलट कर देख लिया, परन्तु दांत नहीं मिले। अचानक उनके मन में संकल्प उठा, शायद मैं रात को मुंह से दांत निकालने भूल गया था। हो न हो, सोते-सोते दांत गले में से होकर पेट में पहुंच गये हैं और अब मेरी अंतड़ियों को काट रहे हैं। पेट की यह पीड़ा इसी कारण है। यह संकल्प मन में आते ही पीड़ा बढ़ने लगी कुछ ही क्षणों में पीड़ा असह्य हो उठी और पादरी महोदय कराहने लगे। चीखने-चिल्लाने की आवाज सुनकर पादरी की पत्नी दौड़ी-दौड़ी आई। पति की यह अवस्था देखकर वह घबरा उठी और टैलीफोन करके शहर से एम्बलेंसकार मंगवा कर पति महोदय को हस्पताल भेज दिया। डाक्टरों ने पादरी से सारी कहानी सुनी, तो कहने लगे, "पादरी साहब यह असंभव है।

आपका गला कोई हाथी का गला नहीं है कि दांतों की वीड़ की वीड़ पेट में पहुँच जाये!" डाक्टरों ने बहुतेरा समझाया, परन्तु पादरी के मन में एक बार जिस संकल्प ने घर कर लिया था, वह बदल नहीं सका। पादरी ने क्रोधित होकर कहा, "मैं दर्द से मरा जा रहा हूं और तुम भाषण ही दिये जा रहे हो। आप्रेशन करके यदि आप मुझे बचा सकते हैं तो बचा लीजिये, अन्यथा बातें न बनाइये!" जब डाक्टरों ने देखा कि पादरी का वहम दूर हो नहीं होता, तो वे उन्हें आप्रेशन-रूम में ले गये। चीर फाड़ का सब सामान जुटा लिया गया और आप्रेशन करने के लिए दर्वाजा बंद करके पादरी को क्लोरोफार्म देने लगे तो अचानक किसी ने दर्वाजे पर दस्तक दी। दर्वाजा खोला गया तो चपरासी ने एक तार दी। तार पादरी की पत्नी ने दी थी, जिसमें लिखा था, "दांत दूसरे कमरे से मिल गये हैं। बिल्ली उठा कर ले गई थी!" तार पढ़ कर डाक्टरों के होटों पर तो हंसी खेलनी ही थी, पादरी भी अपना दर्द भूल कर एकदम उठ बैठा। कहने लगा, "जब से मैं इस मेज पर लेटा हूँ पेट की पीड़ा कम होने लगी थी। अब तो पीड़ा बिल्कुल भी नहीं है!"

मन के संकल्प-विकल्प का मनुष्य के तन पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसका उल्लेख डाक्टर टुके ने भी अपनी पुस्तक "इन्फ्लुएंस आफ दी माइंड अपान दी बाडी" में किया है। वे लिखते हैं—"कितने ही रोग केवल भय से और भय के विभिन्न रूपों से पैदा होते हैं। पागलपन, मूढ़ता, विभिन्न अंगों का निकम्मा हो जाना, अत्याधिक स्वेदन, पित्त प्रकृति, पाण्डु रोग, बालों का शीघ्र ही श्वेत हो जाना, गंजापन, दांतों का गिरना, रक्त-हीनता, घबराहट, मूत्राशय के रोग, गर्भाशय में पड़े बच्चे

का अंग भंग हो जाना, चर्म रोग, फुन्सियां फोड़े तथा एग्जीमा आदि कितने ही स्वास्थ्य-नाशक रोग केवल मानसिक क्षोभ तथा भय से ही पैदा होते हैं !"†

एक ही रात में बालों के सफेद हो जाने की घटना मैंने अपनी आंखों से देखी है। १९३०-३१ की बात है। मेरे बड़े सुपुत्र श्री रणवीर को गवर्नर पर गोली चलाने के अभियोग में फांसी का दण्ड हुआ था। रणवीर जी तब लाहौर सैंट्रल जेल में फांसी की कोठरी में कैद थे और मैं उन्हें उपनिषद् सुनाने के लिये जाया करता था। वहीं एक नैतिक बन्दी भी था, जिसे एक स्त्री के कारण दो व्यक्तियों को मौत के घाट उतारने के अपराध में फांसी का दण्ड हुआ था। सैशन जज के इस निर्णय के विरुद्ध उसने हाईकोर्ट में अपील कर रखी थी। उसे विश्वास था कि हाईकोर्ट से वह छूट जायेगा, परन्तु अपील नामंजूर हो गई। शाम को जब मैं रणवीर को उपनिषद् सुना रहा था, तब उसे यह समाचार सुनाया गया। तब उसके बाल स्याह काले थे। अगले दिन जब मैं फिर गया तो उसके बाल सफेद हो चुके थे। तीस वर्ष का वह युवक रात ही रात में साठ वर्ष का बुढ़ा हो गया। निश्चित मृत्यु सामने खड़ी देख कर वह रात

†"Many diseases are produced by fear in its various forms. Insanity, idiocy, paralysis of various muscles and organs, profuse perspirations, cholerina, jaundice, turning of the gray in the short time, boldness, sudden decay of the teeth, nervous shocks followed by fatal anameia, uterine troubles, malformation of embryo through the mother, skin disease, such as erysiplas, exzema and many other diseases are produced by these terrible health enemies".

भर सो नहीं सका। भय और चिन्ता के संकल्प ने कुछ ही घंटों में उसकी समस्त शक्ति हर ली।

इतना प्रबल होता है, संकल्प।

जो मातायें अपने बच्चों को शैशवकाल में या बाल्यकाल में भयभीत करती रहती हैं, या जो माता-पिता अपनी सन्तान को दबाये ही रखते हैं, वे उनके साथ शत्रुता करते हैं। बच्चों को सर्वदा उत्साहित करते रहना चाहिये कि वे सदा प्रसन्न रहने का स्वभाव डालें। दिन में एक बार तो खूब खुल कर हंसें। जो बालक खुल कर हंसते हैं, उनको छाती के रोग नहीं होते। छाती खूब फैलती है और रक्त का संचार प्रत्येक नस-नाड़ी में तीव्रता से होता है। प्रश्न-उपनिषद् में बतलाया गया है कि मनुष्य के शरीर में ७२ करोड़ ७२ लाख १० हजार २ सौ एक नाड़ियाँ हैं। यदि यह सब की सब नाड़ियाँ दिन में कम से कम एक बार न खुलें तो रक्त रुक जाता है। नाड़ियों में मैल जमने लगता है और फिर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन सारी नाड़ियों को खोलने के लिये खुल कर हंसना बहुत अच्छा साधन है, परन्तु हंसेगा कौन? जिसके संकल्प पवित्र और ऊंचे होंगे। जो दिन भर छल, कपट और चार सौ बीस ही की बातें सोचता रहता है, वह खुल कर कभी हँस नहीं सकता।

मन एक मन्दिर है। मनुष्य को यह इसलिए नहीं सौंपा गया कि वह इसमें भय, चिन्ता, निराशा, ईर्षा, द्वेष, और नीचता के विचारों का कूड़ा-करकट जमा करता रहे। मन का मन्दिर तो सदा पवित्र रहना चाहिये। इसको प्रसन्नता, आशा, निर्भयता, प्रेम, उत्साह और इसी प्रकार के ऊंचे उल्लास भरे विचारों के पुष्पों से सजाना चाहिये। अपवित्र विचारों तथा

पतित करने वाले संकल्पों से सुरक्षित रहने का यही साधन है कि मन को प्रेम, प्रभु-भक्ति, परोपकार तथा उत्साह-पूर्ण संकल्पों से सदा परिपूर्ण रखा जाये।

अब सवाल है—मन में सत्य, शिव और दृढ़ संकल्प कैसे पैदा किया जाये? आप कहेंगे, मन तो चाहता है कि विचार अच्छे हों, चिन्ता निकट न आये, परन्तु परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि मानव बेबस होकर चिंता के सागर में डूब जाता है। बात गलत नहीं है; परन्तु ऐसा कहने वालों को यह नहीं भूलना चाहिये कि जीवन में हर तरह का मौसम आता है। गर्मी भी और सर्दी भी। वसंत और पतझड़ भी। झुलसा देने वाली धूप भी होती है, ठिठुरा देने वाला शीत भी होता है और मूसला-धार बरसने वाली बरसात भी होती है। अच्छे बुरे दिन सभी पर आते हैं। भगवान् राम से बढ़ कर तो कोई विभूति हमारे पास नहीं। क्या उन पर कठिन दिन नहीं आये? राजपाट छोड़ कर चौदह बरस तक वन-वन में भटकना पड़ा। महलों को छोड़ कर पर्ण कुटियों में रहना पड़ा। सीता जैसी सती साध्वी देवी पर विपत्ति आई। इतने बड़े-बड़े धर्मात्मा व्यक्तियों को भी आपत्ति के दिन देखने पड़े, तो आज कल के नर-नारियों की क्या गणना?

कष्ट-क्लेश के दिन तो आते ही हैं। धीर पुरुष वह है और वीरांगना नारी वह है, जो विपत्ति या कष्ट के दिनों को धैर्य के साथ काट दे। अधीर न हो। घबराये नहीं। ऐसे धीर नर-नारी के लिए कष्ट, कष्ट नहीं रहता। अपने संकल्पों से वह सहन-शक्ति पैदा कर चुका होता है। हमारे शास्त्रों ने तो हमें जीवन इसी प्रकार व्यतीत करने का आदेश दिया है कि कष्ट, कष्ट

प्रतीत ही न हों। उपनिषद् में तो यहां तक लिखा है कि रोगी होकर भी अपने आप को रोगी न समझो। यही समझो कि आप तप, तप रहे हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा है:—

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते (५-११-१

"यह परम तप है, जो रोगी हुआ तपता है।" इसी को कहते हैं, हर हाल में खुशहाल रहना। इसी को स्वामी रामतीर्थजी ने 'हालमस्त' कहा था। मैं लिख चुका हूँ कि भक्त अपने आप को यज्ञ रूप समझे। यज्ञ में 'उपसदा' और 'दीक्षा' का वर्णन आता है। यदि भक्त खाता पीता और खुशियां मनाता है तो समझना चाहिये कि वह यज्ञ की 'उपसदा' को पूर्ण कर रहा है। यदि भक्त भूखा प्यासा रहता है, कष्ट सहता है, खुशियों से दूर चला गया है, तो समझना चाहिए कि वह यज्ञ की 'दीक्षा' पूर्ण कर रहा है। प्रयोजन यह कि भक्त किसी भी अवस्था में मन को निर्बल न होने दे। यही द्वन्द्व-सहन है। गर्मी-सर्दी, दुःख-सुख, नर्मी सख्ती हर अवस्था में एकरस रहना ही दृढ़-संकल्प बनने की पहली सीढ़ी है। मनुष्य आपत्तियों में घिरा हुआ भी निराश न हो। जीवन-यात्रा में कितनी ही बार पांव फिसल भी जाते हैं, चोटें भी लगती हैं; परन्तु साहसी-यात्री का यह कर्तव्य है कि फिसल कर फिर संभले। चोट खाकर, गिर कर फिर उठे और अपने लक्ष्य की ओर चल पड़े। यह दृढ़-संकल्प करले कि चाहे कुछ भी हो, मैं तो अपने लक्ष्य, प्रभु-दर्शन की ओर अग्रसर होता ही रहूंगा। संकल्प और दृढ़-संकल्प, तथा शिव, सुन्दर संकल्प वाला बन कर ही मनुष्य अपनी जीवन यात्रा का उद्देश्य पूर्ण कर सकता है। जब लौकिक व्यवहार में संकल्पों का इतना प्रभाव होता है, तो अनुमान कीजिये कि

दृढ़-संकल्प कितने अद्भुत व अलौकिक फल पैदा कर सकते हैं।

प्रभु-दर्शन के लिये जब अपने मन में उत्कठ-इच्छा उत्पन्न हो जाये, तो फिर संसार में रहते हुए भी यह सारे संसारी आडंबर और आकर्षण फीके दीखने लगते हैं। और एक प्यारा प्रभु ही प्यारा प्रतीत होने लगता है। तब भक्त उपनिषद् के शब्दों में पुकार उठता है:—

तदेतत् प्रेयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयोऽन्यस्मात्।
सर्वस्मादन्तरतर यदयमात्मा। (बृह० उ० १)

"यह पुत्र से अधिक प्यारा है, यह धन से अधिक प्यारा है और हर एक वस्तु से अधिक प्यारा है, यह सब से अधिक निकट है, जो यह आत्मा है।"

प्रभु की पवित्र वाणी वेद में भक्त अटल निश्चय से गाता है:—

ओ३म्। उत ब्रवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥५॥
ओ३म्। उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋग्वेद १-४-(५-६)

"चाहे हमारे निन्दक हमें कहें कि तुम जो केवल इन्द्र परमात्मा की ही पूजा करते हो, तुम इस स्थान से, और दूसरे स्थान से भी चले जाओ ॥ ५ ॥ और चाहे भक्तजन हमें सौभाग्य वाला बतलायें, पर हे अद्भुत इन्द्र प्रभो! हम तेरी ही शरण में पड़े रहेंगे ॥६॥"

किस संग कीजे मित्रता, सब जग चालनहार।
निश्चल केवल है प्रभु, उस से करो पियार ॥

दृढ़-संकल्प वाला बनने के लिये पूर्ण आस्तिकता की भावना मन में जागृत करनी चाहिये। श्रद्धा और विश्वास की जोत हृदय में प्रज्ज्वलित करनी चाहिये। कितनी ही घटनायें ऐसी भी आयेंगी जो श्रद्धा, विश्वास और आस्तिकता को कुचल डालें; परंतु सावधान रहें और ऐसी घटनाओं के पश्चात् भी दृढ़-संकल्प को न छोड़ें। दृढ़-संकल्प वालों ने अन्त में सफलता प्राप्त की है। प्रह्लाद परक्या कम आपत्तियां आईथीं ? परन्तु उसने अपना सत्यसंकल्प नहीं छोड़ा और प्रभु-दर्शन पा लिये। ध्रुव के दृढ़ संकल्प ही ने उसे घोर तप करने पर प्रेरित किया उसने संकल्प किया—"चाहे जो हो जाये, अपने प्यारे प्रभु, सच्चे पिता की गोद में बैठूंगा।" और वह प्रभु की गोद में जा बैठा। यह दृढ़-संकल्प ही था, जिसने महर्षि दयानन्द को माता-पिता के लाड़-प्यार तथा घर के सुख आनन्द को त्यागने पर तैयार कर दिया। बाल्यकाल ही में दयानन्द सच्चे शिव के दर्शन पाने के लिये व्याकुल हो उठे। नर्वदा नदी के तट पर निवास करने वाले योगियों और उत्तराखण्ड, गंगोत्तरी,* जमुनोत्तरी, बद्री और केदारनाथ की गुफाओं

---

*—गंगोत्री उत्तर काशी से ५६ मील है—गंगोत्री जब १३ मील की दूरी पर रह जाती है तो इस मार्ग की अन्तिम बस्ती धराली आती है, धराली से एक मील ऊपर, गंगा-तट से कुछ ऊंचाई पर दक्षिण हाथ कुछ कन्द्रायें हैं, उन में एक कन्द्रा धराली के ठाकुर नारायणसिंह जी ने दिखलाई और बतलाया कि उनके पिता ठा० शिवसिंह कई बार यहां आकर बतलाया करते थे कि श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती यहां चिरकाल तक तपस्या करते रहे थे। तीन २-मास की समाधियां भी स्वामीजी ने लगाईं—जब वे समाधि अवस्था में नहीं होते थे, तो मेरे पिता, स्वामी जी के लिये खाद्य पदार्थ प्रतिदिन लाया करते थे।

में रहने वाले तपस्वियों के पास दयानन्द पहुंचे और जब तक अनन्त-शिव के दर्शन पा नहीं लिये, उन्हें चैन नहीं आया। यह दृढ़-संकल्प ही है, जो साधक और भक्त को भयंकर परिस्थिति में भी अटल खड़ा रखता है। प्रेम, श्रद्धा और भक्ति की मूर्ति मीराबाई को उसके दृढ़-संकल्प ने ही लोक लाज से ऊपर कर दिया। विषैले सर्प तथा हलाहल से अभय बना दिया।

रियासत बहावलपुर के रामभक्त छिनकू की घटना आपने सुनी होगी। बहुत ही मीठे स्वभाव वाला भक्त छिनकू बहावलपुर नगर में एक छोटी-सी दुकान करता था। नवाब तक को यह विश्वास था कि सर्वथा शुद्ध और बिना मिलावट के यदि कहीं से घी मिल सकता है तो, वह भक्त छिनकू की दुकान से। भक्त छिनकू दिन भर भगवान् राम की आराधना में लगा रहता। शाम को दो-तीन घण्टों के लिये दुकान खोल कर रोटी कमा लेता। कितने ही मुसलमान भी उसके मित्र थे। एक दिन एक मुसलमान ने उसे प्रातः ही आ कर कहा "दुकान खोलो।" भक्त ने कहा, "यह समय दुकान खोलने का नहीं, राम भजन का है।" मुसलमान ने भगवान् राम को गाली निकाल दी। भक्त छिनकू ने कहा "यदि ऐसे ही तुम्हारे खुदा को और पीर को कोई कह दे तो?" इस पर क्रोध भड़का और उसने और भी गालियां निकालीं। तब भक्त छिनकू ने भी वैसा ही उत्तर दिया। बात बढ़ गई। मुसलमान ने हाकिम के पास रिपोर्ट कर दी। भक्त छिनकू को पुलिस पकड़ कर ले गई। नवाब तक समाचार जा पहुँचा। नवाब ने छिनकू को कहला भेजा कि तू इन्कारी हो जा और कह दे कि मैंने पीर को गाली नहीं दी। तुम्हें छोड़ दिया जायेगा। परन्तु जब कचहरी में उस

का बयान लिया गया, तो भक्त छिनकू ने स्पष्ट कह दिया कि "मैंने गाली दी है।" फैसला सुना दिया गया कि इसे 'संगसार' (पत्थर मार कर मार देना) कर दिया जाये। भक्त छिनकू मैदान में खड़ा है। जो भी उधर से गुजरता है, वह भक्त पर पत्थर जोर से फैंकता है। पत्थर की चोट लगते ही भक्त छिनकू ऊँचे स्वर से कहता है--"राम।" फिर पत्थर पड़ता है। छिनकू फिर पुकारता है—"राम !" पत्थरों ने सिर, छाती, सारा शरीर घायल कर दिया। जगह-जगह से लोहू बह रहा है और हर पत्थर लगने पर छिनकू कह रहा है—"राम !" शाम के समय उसका एक परम मित्र मुसलमान सज्जन आया और कहने लगा, "छिनकू ! मुझ से तुम्हारी यह दशा देखी नहीं जाती। मुझे आज्ञा दो कि मैं तुम्हें तलवार से एक ही वार समाप्त कर दूं !" भक्त ने उत्तर दिया, "नहीं प्यारे मित्र ! राज्याज्ञा के अनुसार ही मुझे मरना चाहिये। मुझे तो कोई पीड़ा हो ही नहीं रही। पीड़ा केवल शरीर को है, जिसने आज भी और कल भी नाश होना है। तुम कोई चिन्ता न करो।" परन्तु उस मुसलमान मित्र के लिये यह अत्याचार अधिक देर सहन करना कठिन हो गया। तब वह तलवार ले आया और उसने भक्त छिनकू का सिर काट दिया। जब सिर कट कर भूमि पर गिरा तो कितने ही समय तक उसके अन्दर से "राम, राम, राम" ही की आवाज निकलती रही ! दृढ़ संकल्प और अगाध भक्ति ही ऐसे दृश्य दिखला सकती है।

हैदराबाद (दक्षिण) के वीर युवक को जब हैदराबाद जेल में "वैदिक धर्म की जय' का नारा लगाने से पुलीस ने रोका और वह वीर-युवक "वैदिक धर्म की जय' बार-बार कहता ही रहा, तो

उसे टिकटिकी के साथ बांध दिया गया। कोड़े पड़ने लगे। जब पहला कोड़ा पड़ा, तो वीर ने ऊँचे स्वर से कहा—"वैदिक धर्म की जय! दूसरा कोड़ा और भी अधिक तेज था। वीर की ध्वनि भी अधिक ऊँची हो गई। हर कोड़े के पश्चात् 'वैदिक धर्म की जय' की गूंज सारे जेल में सुनाई देती थी। कोड़ों से जब वीर बेहोश हो गया, तो उस अवस्था में भी उसकी जिह्वा 'वैदिक धर्म की जय' ही का जाप कर रही थी। दृढ़-संकल्प और श्रद्धा के सामने संसारी पीड़ायें कोई शक्ति नहीं रखतीं। जो एक कार्य करने या किसी उद्देश्य को पूर्ण करने का दृढ़-निश्चय कर चुका है और उस पर कटिबद्ध हो गया है, उसको न अग्नि, न समुद्र, न भूकम्प, न नाना कष्ट, कोई भी रोक नहीं सकता। वह तो सबको पार करता हुआ आगे निकल जाता है—

मार सहे अन्धेर की, अटकें कष्ट अनेक।
धर्मवीर की अन्त लों, पर न टरेगी टेक॥

इसी प्रकार जब प्रभु प्रेम का पात्र बनने के लिये दृढ़-संकल्प कर इस मार्ग पर चल पड़ेंगे, तब समझ लीजिये कि प्रभु-दर्शन की पक्की नींव पर आप अचल खड़े हो गये हैं। आप निस्संदेह साक्षात् दर्शन पा लेंगे और कोई बाधा आपके मार्ग में खड़ी नहीं होगी। यदि बाधायें आयेंगी, तो आप उन पर विजय प्राप्त कर लेंगे। निश्चय रखें, आप में बहुत बड़ी शक्ति छिपी हुई है। आप स्वयं ही अपने आपको पूर्ण अधिकारी बनाने के योग्य हैं। अपने संकल्प को निर्बल न होने दें। अपने आपको तुच्छ न

समझें। भगवान् कृष्ण के इस आदेश को सर्वदा सामने रखें कि—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(गीता ६—५)

"अपने द्वारा ही अपना उद्धार करो, अपने को गिराओ नहीं। आप, आप ही अपने मित्र हैं और आप ही अपने वैरी हैं।"

ओ३म् उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः
कृणुष्व सलिले सधस्थे ।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः
सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥
(अथर्ववेद १८—३—८)

तय्यारी

[२]

प्रभु-दर्शन की नींव सत्य, शिव और दृढ़ संकल्प से रख दी गई; परन्तु केवल नींव ही से तो कार्य सिद्ध नहीं होती। अभी क्रियात्मकरूप से इस प्रकार का जीवन बनाना होगा, जो कि वास्तव में प्रभु-दर्शन करा सके। कई सज्जन कहते हैं कि बड़ी प्रबल-इच्छा, अटल-निश्चय और दृढ़-संकल्प से बैठते हैं कि मन को एकाग्र करके भगवान् के दर्शन पायेंगे; परन्तु कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता। निराश होकर, उठ खड़े होते हैं। ऐसे भक्तों से मेरा यह निवेदन है कि मन की एकाग्रता केवल एक स्थान में बैठ कर आंखें बन्द करके ध्यान लगाने का प्रयत्न करने ही से प्राप्त नहीं हो सकती। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिये पहले

कितनी ही मंजिलें तय करनी पड़ती हैं। दृढ़ संकल्प की नींव रखने के पश्चात् मनुष्य को अपना 'मनुष्य जीवन' बनाना होता है। 'मनुष्य को मनुष्य जीवन बनाना होता है' इसका क्या अर्थ? अर्थ यह है कि मनुष्य में मनुष्यत्व पैदा हो जाये। वह जड़वत् और पशुवत् न बना रहे।

प्रभु की इस अद्भुत सृष्टि में लाखों योनियां हैं। पशु, पक्षी, जलचर, भूचर नभचर; कीट-पतंग इत्यादि। इस सारी सृष्टि में प्रभु-दर्शन का अधिकार केवल मनुष्य को ही दिया गया है। अब यदि मनुष्य मानव का चोला धारण करके भी पशु या अमानव बना रहे, तो केवल इस चोले के कारण उसे प्रभु-दर्शन नहीं हो सकेंगे इसलिये मनुष्य को मनुष्य बनना होगा, और मनुष्य भी आर्य मनुष्य, दस्यु नहीं।

महाभारत के उद्योग पर्व अध्याय ३४ में आर्य की परिभाषा की गई है :—

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
नदुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशील परमाहुरार्याः
॥११२॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं सकथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः
॥११३॥

जो शान्त हुए वैर को नहीं चमकाता, घमण्ड में कभी नहीं आता, तेज से हीन नहीं होता, और विपदायें झेलता हुआ भी

अकार्य नहीं करता है, उसको, केवल उसी को आर्य पुरुष आर्यशील कहते हैं।११२॥ जो अपने सुख (ऐश्वर्य) में फूल नहीं जाता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता, दे करके पीछे पछताता नहीं, वह सत्पुरुष आर्यशील कहलाता है ॥११३॥

यही गुण मनुष्य में हों, तो वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। वेद भगवान् में मनुष्य को, मनुष्य बनाने के लिये जिन नियमों का आदेश किया है, उनमें से अत्यन्त आवश्यक ये है :—

१—उषा काल से पहले उठो

सब से पहला आदेश यह है कि मनुष्य सूर्य तथा उषा से भी पहले निद्रा त्याग कर उठ खड़े हों। उषा उस ज्योति का नाम है, जो सूर्य उदय होने से पूर्व फैलती है।

अथर्ववेद (१०—६—३१) में यह आदेश है:—

नाम नामना जोहवीति पुरा सुर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं संबभूव।

सूर्य से पहले और उषा से पहले नाम को नाम से (उस ईश्वर को) बार-बार पुकारो, जो अजन्मा है और पहले ही प्रकट है। मनुष्य को चाहिये कि वह उषा से पहले उठे भगवान् के नाना नामों से उसे स्मरण करे। उषा देवी की बड़ी महीमा वेद ने गाई है। ऋग्वेद में लिखा है कि "रानी उषा मनुष्य समुदाय के लिये चिकित्सा करती हुई काले आकाश से उठ खड़ी हुई है।" (ऋ० १—१२३—१)

फिर इसी मण्डल के इसी सूक्त का चौथा मन्त्र यह है:—

गृहं गृहमहना यात्यच्छा दिवेदिवे अधिनामा दधाना ।
सिपासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमित् भजते वसूनाम् ॥
ऋ०—१—१२३—४

"उषा दिन पर दिन सवाया रूप धारती हुई घर की ओर जाती है। यह कुछ देना चाहती हुई, चमकती हुई सदा आती है, और कोषों में से आगे-आगे बाँटती ही जाती है।"

इस उषा देवी का स्वागत करने के लिये उषा के आने से पूर्व ही उठ जाओ। यदि उषा देवी आ गई और आप निद्रा ही में पड़े रहे, तो आप उषा की देन से वञ्चित रह जायेंगे। जागो, जागो और भगवान् के खजाने से कुछ ले लो। एक कवि ने भी कहा है :—

हर रात के पिछले पहरे में,
इक दौलत लुटती रहती है।
जो जागता है सो पाता है,
जो सोता है सो खोता है।

भक्त कबीर कितनी मस्ती से गाता है :—

जागु री बौरी, अब का सोवे।
रैन गई दिन काहे को खोवे।
जिन जागा तिन मानिक पाया,
तैं बौरी सब सोय गंवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूर्ख नारी,
कबहुँ न पिय की सेज संवारी॥

तैं बौरी बौरापन कीन्हों,
भर जोवन पिय अपन न चीनो।
जागु, पिय अब सेज न तेरे,
तोहि छोड़ि उठि गये सवेरे॥
कह कबीर, सोई धन जागै,
शब्द बान उर अंतर लागै॥

देखो, बाहर देखो!

उषा देवी चहक रही है। स्वास्थ्य, सौंदर्य सफलता, आस्तिकता, सुख, सम्पन्नता, ऐश्वर्य की दौलत लुट रही है और तुम अभागे सो रहे हो! यह अमृतवेला है। तीन घड़ी रात रहते शय्या को छोड़ दो। निहारो तो, तुम्हारा पीतम कितना सुन्दर रूप धारण करके इस बहाने तुम्हें देखने आया है। उठो! गाओ, अपने पीतम के गीत गाओ। वन्दना करो। अर्चना करो और हाथ फैला कर कहो—"लाओ पीतम! मुझे मनुष्य बनाने के लिये क्या लाये हो?"

२. शरीर को बलवान् बनाओ

रोगी शरीर का स्वामी मनुष्यत्व से पतित हो जाता है, क्योंकि उसमें मनुष्य-धर्म को पूर्ण करने की सामर्थ्य नहीं होती। अपने शरीर तथा इन्द्रियों को इस प्रकार से रखो कि वे सदा स्वस्थ और बलवान् रहें। खान-पान ऐसा सात्विक हो, जिससे शरीर की शक्ति बढ़ती रहे और मनुष्य इस वैदिक आदर्श को दूसरों के सामने निस्संकोचभाव से रख सके:—

वाङ् म आसन् नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥१॥

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥२॥
(अथर्व—१९—६०)

"मेरे मुख में वाणी है (मुझमें अपने मन के भाव प्रकट करने की शक्ति है, सत्य कहने में भय नहीं है ।)

"मेरी नसों में प्राण हैं (मैं जीता जागता हूँ और जीवन के लक्षण दिखा सकता हूँ ।)

मेरे नेत्रों में दृष्टि है और कानों में श्रुति है (मैं यथार्थ ही देखता और यथार्थ ही सुनता हूँ ।)

"मेरे बाल श्वेत नहीं, मेरे दांत लाल नहीं और मेरी भुजाओं में बड़ा बल है ।

"मेरी रानों में शक्ति है, और मेरी जांघों में वेग है । मेरे दोनों पांवों में दृढ़ खड़ा होने की शक्ति है (मैं इस जीवन-संग्राम में अपने पांवों पर आप खड़ा होने के योग्य हूँ ।)

"मेरे सारे अंग पूर्ण और नीरोग हैं । मेरी आत्मा परिपक्व है (बलवान और तेजस्वी है)"

इस पवित्र वेदमन्त्र के अनुसार हमारा एक-एक अंग बलवान हो । जो उषाकाल से पूर्व उठकर शौच जाता है, व्यायाम, भ्रमण या योग के आसन करता है, जिह्वा के स्वाद के आधीन न होकर सात्विक, पोषक अन्न, दूध, फल खाता है, और इन्द्रियों को वश में रखता है, निस्सन्देह वह अपना शरीर इस वेद मन्त्र के अनुकूल बना लेता है । यदि दूध और फल नहीं मिलते तो केवल अन्न से भी वैसी ही शक्ति वह प्राप्त कर लेता है ।

होना यह चाहिये कि शरीर स्वस्थ रहे, क्योंकि स्वास्थ्य के बिना कोई भी कार्यसिद्धि नहीं हो सकती । आयुर्वेद के शास्त्र चरक संहिता में यह आदेश है:—

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।

धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन सब का उत्त म मूल आरोग्य है।

३. चरित्र को पवित्र बनाओ

शरीर को बलवान् एवं स्वस्थ बनाने के साथ यह भी आवश्यक है कि मनुष्य का चरित्र पवित्र हो। चरित्रहीन बलवान् पशुओं से भी बुरा है। वह तो समाज और परिवार का शत्रु है और मनुष्य कहलाने के भी योग्य नहीं ।

यजुर्वेद ४—२८ में भगवान् से यह प्रार्थना की गई है :—

परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु ॥

"हे अग्ने ! मुझे दुश्चरित से सदा बचाते रहो और सुचरित में सदा चलाते रहो, जिससे कि मैं उच्च जीवन और पवित्र जीवन के साथ देवताओं की ओर बढ़ूं ।"

आप निश्चय करें कि आप किस के साथी बनना चाहते हैं ? देवताओं के या असुरों के । इस निश्चय के पश्चात् यदि देवताओं का साथी बनना पसन्द किया है, तो चरित्र पवित्र बनाना होगा । चरित्र का नाश करने वाली जो बातें हैं, वेद ने उनका निषेध किया है:—

(क) सुरापान तथा बुद्धि विनाशक अन्य मादक द्रव्यों का सेवन न करें ।१

(ऋ० ७ । ८६ । ६२)

(ख) मांस, अण्डा आदि अभक्ष्य-पदार्थ न खायें

(अथर्व० ८ । ६ । २३)

(ग) द्यूत, जुआ न खेलें ।

(ऋ० १० । ३४ । २)

(घ) व्यभिचार न करें।

(ऋ० ४ । ५ । ५)

(ङ) दूसरे का अधिकार, अन्न, धन न छीनें।

उनसे सद्व्यवहार करें और सब से बढ़ कर यह कि किसी से द्रोह न करें। पवित्र चरित्र वाला ही शीलवान् कहलाता है। शील के सम्बन्ध में कहा गया है कि :

अद्रोहः सर्व भूतेषु, कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च, शीलमेतद् विदुर्बुधा ॥

'मन, वाणी और कर्म के द्वारा प्राणधारियों के विषय में द्रोह रहित रहना और सब के भले में रहना, तथा ज्ञान को बढ़ाते रहना, बुद्धिमान लोग इसको शील (चरित्र, आचार) कहते हैं।' आचारहीन के लिये तो कहीं कोई ठिकाना ही नहीं है। क्योंकि:—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ।

"जो आचार से हीन है, उसे वेद भी पवित्र नहीं करते।"

आचारः प्रथमो धर्मः ।

'आचार पहला धर्म है।'

इसलिये पूरी सावधानी से अपने चरित्र की रक्षा करो। यह संसार फिसलनी घाटी है। यदि जीवन-यात्रा में कभी पांव फिसल जाये और न चाहते हुए भी चरित्र में कमजोरी आने लगे, तो प्रभु के चरणों में झुक कर उससे निवेदन करोः—

ओ३म् यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसोवाऽतितृण्णम्
बृहस्पतिर्मे तद् दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६—२)

"जो मेरी आंख का छिद्र (दोष) है, अथवा मेरे हृदय का तथा मन का जो गहरा गढ़ा है, हे बृहस्पति भगवन्! वह भर दो। हमारे लिये कल्याणकारी बनो। आप सब के स्वामी हैं।"

महाभारत में यह आदेश है:—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्, वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः॥

"वृत्त (चरित्र) की यत्न से रक्षा करे। वित्त (धन) तो आता है और जाता है। वित्त (धन) से क्षीण हुआ क्षीण नहीं, परन्तु वृत्त (चरित्र) से गिरा हुआ तो मरा ही हुआ है।"

आधुनिक काल में तो सब कुछ वित्त (धन) ही को समझ लिया गया है। बाल्यकाल में पाठशाला में हम पढ़ा करते थे:-

धन का नाश हो जाये तो कुछ नहीं बिगड़ा।
स्वास्थ्य बिगड़ जाये तो थोड़ी हानि हुई।
चरित्र बिगड़ जाये तो सर्वनाश हो गया। *

लेकिन अब इससे बिलकुल उलटी बात हो गई है। नीचे की चीजें ऊपर चली गई हैं। ऊपर की चीजें नीचे आ गई हैं। वचन से भले ही लोग न कहते हों; परन्तु कर्म से अब यह कहा जाने लगा है:—

चरित्र बिगड़ जाये तो कुछ नहीं बिगड़ा।

---

* When wealth is lost, nothing is lost.
When health is lost, something is lost.
When character is lost, everything is lost.

स्वास्थ्य बिगड़ जाये तो थोड़ी हानि हुई ।

धन का नाश हो जाये तो सर्वनाश हो गया । *

अर्थात् वृत्त [चरित्र] का स्थान वित्त [धन] ने ले लिया है। चक्की उलटी चलने लगी है।

आधुनिक सभ्यता के प्रेमी बड़े गर्व से कहते हैं कि हम जनता का स्टैंडर्ड आफ़ लाइफ़ [जीवनस्तर] ऊँचा करना चाहते हैं। परन्तु इनका 'जीवनस्तर' केवल भौतिक शरीर तक ही सीमित है। इससे आगे नहीं जाता । सुन्दर वस्त्र पहनना, योग आसनों तथा व्यायाम के स्थान पर बैडमिंटन इत्यादि खेलना, भोजनशाला में बैठ कर भोजन करने की बजाय डाईनिंग हाल में मेज लगा कर भोजन करना, सत्संग में जाकर प्रभु-कीर्तन करने की बजाय क्लब-घर में जाकर ताश-जुआ खेलना आदि ही 'जीवन-स्तर' ऊँचा करने के साधन समझ लिये गये हैं। ऐसे साधनों से जीवन-स्तर ऊँचा हो रहा है या नीचे ? हां, थालियां तथा प्लेटें निस्सन्देह ऊँची हो गई हैं। वे चौके से उठकर मेज पर आ गई हैं । परन्तु जीवन-स्तर का तो पतन हो गया है। जीवन-स्तर ऊँचा होने का अर्थ तो यह है कि रहें सादगी से और जीवन में नम्रता, सत्य, सेवा, स्वाध्याय तथा सद्व्यवहार की ज्योति चमकने लगे। परन्तु अब तो जीवन-स्तर की ऊंचाई केवल धन से मापी जाने लगी है। यह धन एकत्र करने के लिये हर प्रकार का छल, कपट, अन्याय और दुर्व्यवहार होने लगा

* Wnen characttr is lost, nothing is lost.
When health is lost, something is iost.
When wealth is lost, everything is lost.

है। यह जो उलटी हवा बहने लगी है, जिसने चरित्र का सर्वनाश कर दिया है, इसे पूर्ण प्रयत्न से बदल देना होगा। जहां अपने आप को पवित्र चरित्र वाला बनाना होगा, वहां मनुष्य-समाज पर भी यही रंग चढ़ाना होगा। वेद भगवान् का यह आदेश सारे संसार को सुन लेना चाहिये:—

ओ३म्। प्रत्नान्मानादध्यायें समस्वरन्,
श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य,
पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः॥
(ऋ० ६—७३—६)

"परम देव परमात्मा की ओर से विचित्र शक्तियां उठती रहती हैं। भक्तिभाव और प्रेरणावाले उन्हें पहचानते हैं। अन्धों और बहरों की वहां पहुंच नहीं। दुष्कर्मी सत्य-मार्ग को पार नहीं कर सकते।"

ओ३म्। ऋतस्य गोपा न दभाय
सुक्रतुस्त्रीष पवित्रा हृद्यान्तरादधे।
विद्वान् स विश्वा भुवनाभिपश्यत्य-
वाजुष्टात् विध्यतिकर्ते अव्रतान्॥
(ऋ० ९-७३—८)

"सत्य के पालक प्रभु का बल अद्भुत है। उसे कौन ठग सकता है? वह अत्यन्त शुद्ध बारीक शोधवाला है। उस से कुछ छिपा हुआ नहीं। आचरण-शून्य लोगों से उसका प्रेम नहीं होता, इसलिये उनका विकास रुका रहता है।"

ओ३म् ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र
आजिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया।
धीराश्चित्तत् समिनक्षन्त आशतात्रा
कर्तम् अवपदात्य प्रभुः ॥
(ऋ० ६।७३।६)

("जहां शुद्ध व्यवहार है, वहां सत्य) का सूत्र (विद्यमान है।) पाप नाशक भगवान् की विचित्र शक्ति से (यह सूत्र हृदय में पैदा होकर) जिह्वा के सिरे तक पहुँचता है। सुकर्मी लोग इसे भली प्रकार पा लेते हैं। कर्महीन का मार्ग नीचे की ओर रहता है।"

मनुष्य समाज के योग्य बनो

मनुष्य समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिये हमारे पूर्वजों ने आश्रम और वर्ण का सुन्दर ढाँचा निर्माण किया था। जब तक वर्ण-आश्रम की मर्यादानुसार समाज चलता रहा, संसारी लोग अपना जीवन उद्देश्य पूरा करते रहे। परन्तु अविद्या, आलस्य प्रमाद और स्वार्थ के कारण अब मर्यादा भंग होगई और मनुष्य समाज दुखी हो गया है। आश्रम मर्यादा यह थी कि बाल्यकाल से लेकर पूर्ण युवा अवस्था तक बालक-बालिकायें ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए हर प्रकार की विद्या और ज्ञान प्राप्त करते थे। शरीर, बुद्धि तथा मन का विकास हो जाने के बाद मनुष्य अपने समाज के लिये गौरवजनक बन जाता था। संसार और सृष्टि के क्रम को जारी रखने के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना होता था। गृहस्थ से वानप्रस्थ और फिर सन्यास में जाना होता था। कुछ

त्यागी, तपस्वी एवं परोपकारी ऐसे भी होते थे, जो गृहस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। बहुत प्राचीन काल की बात तो जाने दीजिये, पिछले थोड़े समय में ही इस प्रकार के तपस्वियों में भगवान् शंकराचार्य और भगवान् दयानन्द दो ऐसे महानुभाव हुए हैं, जिन्होंने प्रभु-दर्शन और परोपकार के लिये युवा-अवस्था में ही सन्यास लेकर अपना जीवन सफल बना लिया।

अब भी ऐसे महानुभाव हैं, जो सारा जीवन ब्रह्मचारी रह कर आत्म-दर्शन कर रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले अपना जीवन सफल नहीं बना सकते। गृहस्थाश्रम को तो सारे आश्रमों से श्रेष्ठ माना गया है। वेद ने तो गृहस्थाश्रम को 'पुण्य लोक' और 'धर्म की वेदी' कहा है।

(ऋ० १०—८५—२४)

भगवान् मनु ने तो गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में यहां तक लिख दिया है कि—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थाश्रमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

मनु० ३—७७

"जैसे सारे प्राणधारी वायु का आश्रय लेकर रहते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थ का आश्रय लेकर रहते हैं।"

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

मनु० ६—९०

"जैसे सब नदी नद समुद्र में विश्राम पाते हैं; वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ में विश्राम पाते हैं।"

गृहाश्रम ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक नहीं है, अपितु हमारा इतिहास बतलाता है कि भारत के बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि जो आत्म-विद्या और ब्रह्मविद्या के आचार्य थे, वे गृहस्थी ही थे। याज्ञवल्क्य ने यद्यपि संन्यास बाद में धारण किया, परन्तु वे ब्रह्म-विद्या के आचार्य गृहस्थ ही में बन चुके थे। गृहस्थी के रूप में ही वे जनक को आत्मा के दर्शन कराते रहे। संन्यास लेने से पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मविद्या सिखला कर गये। उन्हें गृहस्थाश्रम ही में ब्रह्म के साक्षात् दर्शन प्राप्त हो चुके थे। केवल आश्रम मर्यादा पालन करने के लिये ही उन्होंने संन्यास धारण किया। देवी मन्दालसा ने भी पितृगृह में ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया था और विवाह करने के पश्चात् अपने पांच सुपुत्रों को ब्रह्मज्ञान दे कर योगी बना दिया था। छठे पुत्र को राज्य-प्रबन्ध की शिक्षा देकर राजा बना दिया। मंदालसा जैसी देवियों ने गृहस्थ आश्रम में ही सब कुछ पा लिया था। ऐसे ही राजा अश्वपति कैकेय, जिन का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में आता है, पूर्ण ब्रह्मवेत्ता थे। छान्दोग्य उपनिषद् के अन्त में तो गृहाश्रम का विधान करके उसी का फल ब्रह्म-लोक बतलाया है। भगवान् दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के अन्त में लिखा है :—

जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उस का आधार गृहाश्रम है। जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है, वही निन्दनीय और जो प्रशंसा करता है, वही प्रशंसनीय है, परन्तु गृहाश्रम में तभी सुख होता है, जब स्त्री पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों।"

और, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी कौन है? इस सम्बन्ध में वेद में बहुत सुन्दर और भावपूर्ण मन्त्र आते हैं। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति कहता है :—

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः॥
(यजु० ३—४१)

"हे गृहस्थो मत डरो, मत कांपो। मैं जब पराक्रम को धारण करने वालों के निकट आया हूं, तो स्वयं पराक्रम को धारण करके उदार हृदय और गम्भीर मेधा से युक्त होकर हर्ष (आनन्द) भरे मन के साथ तुम गृहस्थों के निकट आता हूँ।"

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥
(अथर्व ७—६०—१)

"पराक्रम को धारण कर ऐश्वर्य और भलाई का प्रेमी मन, उत्तम मेधा और उदार मन से युक्त हुआ, आदर मान करता हुआ मैं, कभी प्रतिकूल न होने वाली मित्र जैसी दृष्टि से, गृहस्थों में प्रविष्ट होता हूँ। हे गृहस्थो! मेरे साथ आनन्द मनाओ, मुझ से डरो मत।"

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार वेद ने केवल उनही युवक युवतियों को दिया है, जिनके अन्दर पराक्रम और ऐश्वर्य है। हृदय उदार है। दूसरों की भलाई करने का उत्साह और प्रेम है। जिनका मन उत्साह, और आनन्द से भरपूर है। शरीर पुष्ट है और जो दूसरों पर बोझ न बनें, अर्थात् अपने पांव पर आप खड़े हो सकें। मनु ने भी आदेश किया है कि

दुर्बल शक्ति वालों को कोई अधिकार नहीं कि वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।

जिनकी इन्द्रियां शिथिल हैं, शरीर शक्तिहीन है, जिनके चेहरों पर कान्ति नहीं. जो प्रसन्न वदन नहीं, जो निराश और हताश रहते हैं, जो कंजूस हैं, जो घर में रहते हुए भी अपने भाई-बहिन, माता-पिता तथा दूसरे सम्बन्धियों को सुख पहुँचाने के लिये तप और त्याग नहीं कर सकते, जो मीठा नहीं बोल सकते, क्रोध की मूर्ति बने रहते हैं, जरा-जरा-सी आपत्ति से अधीर हो जाते हैं, वे गृहस्थाश्रम जैसे तप और त्याग के आश्रम में प्रवेश करने के योग्य नहीं हैं। ऐसे स्वभाव और ऐसी प्रकृति के युवक-युवतियों को चाहिये कि वे गृहस्थ-आश्रम पर कृपा ही करें। इसमें प्रवेश करके इसे दूषित न करें।

गृहस्थ आश्रम को वास्तविक रूप में पुण्यधाम और स्वर्गधाम बनाने के लिये वेद तथा शास्त्र ने अत्यन्त उपयोगी गुर बतलाये हैं :—

१. पति तो यह समझे कि जिस देवी का मैंने हाथ ग्रहण किया है, इसे सब प्रकार से सुखी रखना मेरा कर्तव्य है। यह देवी मेरे मन रूपी पक्षी का घोंसला है। यह देवी मेरे हृदय की मालिका बन चुकी है। इस के अतिरिक्त संसार की सारी और देवियां मेरे लिये माता, बहन और बेटी के समान हैं। और पत्नी यह समझे कि मेरा धर्म यही है कि पतिदेव की पूजा करूं। सब प्रकार से उन के सुख का ध्यान रखूं। हम दोनों अभिन्न-हृदय हो कर जीवन-नौका को सागर से पार ले चलेंगे। मेरे मन-मंदिर का देवता मेरा पति ही है। इसमें और कोई स्थान नहीं पा सकता।

भारतीय इतिहास में पतिव्रत-धर्म को आर्य-संस्कृति का विशेष चिन्ह माना गया है और ऐसी देवियों को आदर्श देवियों के नाम से पुकारा गया है। माता सीता, सती सावित्री, पूजनीया अनसूया, सती पद्मनी तथा ऐसी ही अन्य देवियों का नाम जिह्वा पर आते ही चित्तप्रफुल्लित हो उठता है।

जब भगवान् राम के साथ सीता भी वन की ओर चल पड़ी और मार्ग में महर्षि अत्रि का आश्रम आया और महर्षि की पतिव्रता सत्यपरायण पत्नि अनुसूया को जब पता लगा कि सीता अपने पत्निव्रत धर्म को निभाने के लिये कठिन तपस्या करने पर तैयार हुई है, तो माता अनुसूया बड़ी प्रसन्न हुईं और उन्होंने सीता जी से कहा :—

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदया॥

स्वामी नगर में रहे या वन में, भले हों या बुरे—जिन स्त्रियों को वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकों की प्राप्ति होती है।

(वालमीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड ११७—२१)

और सीता जी को क्या यह पहले ही निश्चय न था?
—था और पूरा निश्चय था, इसीलिये जब भगवान् राम ने वनों, जंगलों के भयंकर दृश्य खैंच कर सीता जी को घर ही में रहने की प्रेरणा की तो सीता जी ने कितने सुन्दर शब्दों में कहा था :—

प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद विधु, सुरपुर नरक समान॥

तनु धनु धामु धरनिपुर राजू ।
पति विहीन सब सोक समाजू ॥
भोग रोग सम भुवन भारु ।
जम जातना सरिस संसारु ॥
प्राननाथ ! तुम्ह बिनु जग माहीं ।
मो कहुं सुखद कतहूं कछु नाहीं ॥

ऐसा आदर्श रखने वाली देवियां ही सती साध्वी कहलाती तथा मान पाती हैं ॥

२. जिन परिवारों में मीठी वाणी का प्रयोग होता है, वहां आनन्द की वर्षा होती है। गरीबी में भी प्रसन्नता उनके आंगन में खेलती है। द्रौपदी के एक कड़वे वचन ने ही महाभारत का युद्ध करा दिया था, जिस ने भारत का ऐसा नाश किया कि आज तक संभल नहीं पाया। वेद ने आदेश दिया है कि तुम्हारी जिह्वा के अग्रभाग में भी और अन्तिम भाग में भी मधु भरा हो।

एक कवि ने ठीक कहा है, 'वाणी की मधुरता से बढ़ कर कोई मधुरता नहीं। कड़वी वाणी से कोई उपकार भी करे तो प्यारा नहीं लगता। कोयल बोलते समय क्या लाकर दे देती है और कौआ क्या ले जाता है ?'

तुलसीदास ने भी कहा है :—

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजे चहुँ ओर ।
वशीकरण यह मंत्र है, तज दे वचन कठोर ॥

३. जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। जिस कुल में स्त्री से भर्त्ता, और भर्त्ता से स्त्री

सदा प्रसन्न रहते हैं, उस कुल में अटल कल्याण नित्य बना रहता है।

४. जहां प्रतिदिन हवन-यज्ञ, संध्या, अतिथियों का स्वागत और स्वाध्याय होता है, वहां ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति, यश बढ़ता रहता है।

५. वेद ने स्त्री को पुरुष की दासी नहीं बनाया, अर्धांगिनी बनाया है। पति-पत्नी दोनों दम्पति कहलाते हैं। वेद में 'दम' घर का नाम है। दम्पत्ति के अर्थ —'घर के दो स्वामी हैं, वैसे पत्नी भी स्वामिनी हैं। आज कल कितने ही स्थानों से देवियों के साथ क्रूर तथा दुर्व्यवहार की वातें सुनने में आती हैं। स्त्रियों के साथ पशुवत् व्यवहार होता है। यह अत्याचार आज नहीं तो कल उस कुल का नाश कर देगा। जिन देवियों के साथ ऐसा व्यवहार होता हो, उन के लिये यही उचित है कि वे जगत्पति प्रभु को अपना पति समझें और उसी के भजन में मन लगायें तथा स्त्री जाति के कल्याण के लिये समय दें।

६. अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के तीसवें सूक्त में पारिवारिक जीवन का बहुत सुन्दर चित्र चित्रित किया गया है। हर एक परिवार में इस सूक्त का पाठ तथा उसके अनुसार आचरण होना चाहिये।

७. सारे परिवार में आस्तिकता की लहर चलती रहे। परिवार का हर एक व्यक्ति परमात्मा को अपना मित्र समझे और नित्यप्रति यह प्रार्थना करे :—

"अजरासस्ते सख्ये स्याम,
पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व"

"प्रभु ! हम तेरी मैत्री में कभी बूढ़े न हों। तेरी मैत्री हमारे साथ कभी पुरानी न हो। सदा नई बनी रहे। पिता बन कर हे भगवान् ! हम पुत्रों को प्यार कर।"

८. नेक कमाई (खेती, पशु-पालन, मजदूरी व्यापार शिल्प-उद्योग तथा राज्य-प्रबन्ध के द्वारा) जो धन मिले, उसी से निर्वाह किया जाये। पाप की कमाई घर में न आने पाये। किसी का स्वत्व दबा कर, रिश्वत लेकर, खाद्य पदार्थों, अन्न, घी, तेल, औषधियों में मिलावट करके कमाया हुआ धन पाप का धन है। ऋग्वेद (१—१—३) में यह आदेश है कि "मनुष्य अग्नि के साथ धन का उपभोग करे, जो दिन पर दिन पुष्टिकारक ही हो, यश से युक्त हो और सब से बढ़ कर वीर पुरुषों वाला हो।" यहां 'अग्नि के साथ' का प्रयोजन है, धर्म कार्यों के साथ।

९. नेक कमाई से प्राप्त किया धन पा कर अभिमान न करे। यह धन आता जाता रहता है। जितना अधिक धन प्राप्त करे या परिवार में जो कोई अधिक सेवा और परिश्रम करे, उतना ही अधिक वह नम्र होता चला जाये। अभिमान न करे। अभिमान सारी सेवा और सारे पुरुषार्थों पर पानी फेर देता है।

१०. मनुष्य समाज की सेवा का कोई न कोई काम जारी रहना चाहिये। अकेले नहीं खाना चाहिये। बांट कर खाना चाहिये। जो कुछ आप कमाते हैं, इसपर केवल आप का ही अधिकार नहीं। परिवार और समाज के अतिरिक्त प्राणी-मात्र का इस पर अधिकार है।

११. प्रत्येक परिवार में प्रथम तो तीन अन्यथा एक गाय तो अवश्य ही होनी चाहिये। प्रत्येक गृहस्थी के लिये यज्ञ करना आवश्यक है और यज्ञ के लिये घृत तथा दूध। तीन गौएं दुधारू

सदा घर में रहेंगी, तभी यज्ञ हो सकेंगे। यज्ञों के अतिरक्त सारे परिवार को शुद्ध घी, दूध, मक्खन, दही, पनीर नाना पदार्थ मिलते रहेंगे। वेद ने गाय की बड़ी महिमा वर्णन की है। ऋग्वेद के छठे मण्डल के २८ वें सूक्त का एक मन्त्र देखिये :—

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद् शरीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथा भद्रवाचो वृहद् वो वय उच्यते सभासु॥

(६-२८-६)

"हे गौओ! तुम दुबले को भी हृष्ट-पुष्ट बना देती हो। कुरूप को भी रूपवान् बना देती हो। हे भली वाणी वालियो! घर को भद्र (भला, कल्याणयुक्त) बना दो। हमारी सभाओं में तुम्हारी बड़ी शक्ति कही जाती है।"

इस बात को सदा सामने रखो कि अन्न का मन पर प्रभाव पड़ता है। गाय के दूध का अन्न सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। आप के शरीर तथा मुखमण्डल पर विदेशी क्रीमें मलने से कांति तथा तेज नहीं आयेगा। न ही नकली घी खाने से। केवल गाय का शुद्ध घृत-दूध ही यह गुण पैदा करेगा। इस प्रकार का जीवन बना लेने से आप अपने आप को मनुष्य समाज के योग्य बना सकेंगे और साथ ही प्रभु-दर्शन के लिये दृढ़, सत्य, सुन्दर संकल्प की जो नींव रखी गई थी, उस पर ऐसे मन्दिर का निर्माण कर लेंगे, जिस मन्दिर में आप की मनोकामना पूरी हो सकेगी।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम ॥

(कठ उपनिषद् २—१०)

[४]

मन्दिर में प्रवेश

मन्दिर तो बना, परन्तु मन्दिर में प्रवेश कौन लोग कर सकेंगे ? प्रभु-दर्शन का अधिकार तो मनुष्यमात्र को है। यहां ऊंच-नीच रंग और देश-विदेश का कोई झगड़ा नहीं। यही एक मार्ग और स्थान है, जहां न साम्प्रदायिकता है, न जाति-अभिमान। प्रदेश और स्वदेश का कोई भेद है, न वर्ण-आश्रम का। भाषा और प्रांत का कोई विचार नहीं। परन्तु सत्य यह है कि प्रभु केवल उनको ही दर्शन देंगे, जिन्होंने अपने आपको इसका अधिकारी बना लिया होगा।

मेरे अनुभव में यह आया है कि जनता में प्रभु-दर्शन की पिपासा है। वह इस प्यास को बुझाने का यत्न करती है। कुछ स्वार्थी लोग जनता की इस पिपासा का दुरुपयोग करते हैं। ऐसे लोगों ने प्रभु-दर्शन की दुकानें-सी खोल रखी हैं। जनता वहाँ जाती है और लाभ की जगह हानि उठाती है। ऐसी दुकानों में

गये हुए श्रद्धालुओं को सन्मार्ग नहीं दिखलाया जाता, अपितु वहां अपनी स्वार्थसिद्धि की जाती है।

एम० ए० अथवा वेदतीर्थ की श्रेणी में प्रविष्ट होने के लिये जो विद्यार्थी आते हैं, उनसे पहले यह पूछा जाता है कि उन्होंने पहली श्रेणियों की परीक्षायें उत्तीर्ण कर ली हैं या नहीं। उनके प्रमाणपत्र देखे जाते हैं और पूरी तसल्ली कर लेने के पश्चात् उन्हें उचित श्रेणी में प्रविष्ट किया जाता है। परन्तु प्रभु-दर्शन की सब से ऊपर की श्रेणी में प्रविष्ट होने के लिये कुछ भी नहीं देखा जाता और साधक को आते ही अनीमा (वस्ती) कराने के पश्चात् प्रभु-दर्शन के लिये बिठला दिया जाता है। इस श्रेणी में बिठलाने से पूर्व जिन श्रेणियों की परीक्षयें देनी होती हैं, वे एक दो नहीं, अधिक हैं। इनमें से सबसे पहली श्रेणी में उत्तीर्ण होना अत्यन्त आवश्यक है। इस पहली श्रेणी का नाम है, यम। दूसरी का नियम। ये दोनों बड़ी दुर्गम घाटियां हैं। तीसरी श्रेणी है आसान। चौथी प्राणायाम। पांचवीं प्रत्यहार। छटी धारणा। और फिर सातवीं ध्यान आती है। इन सात के पश्चात् समाधि है। परन्तु आजकल साधक भी यही चाहता है और योग के दुकानदार भी कि पहली श्रेणियों को जाने दो और समाधि में पहूँचा दो। यह व्यवहार शास्त्र-मर्यादा और यथार्थता के सर्वथा विपरीत है।

'यम' किसे कहते हैं ? योगदर्शन साधन पाद के तीसवें सूत्र में इसका उत्तर दिया गया है :—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पांच यम हैं। योग (प्रभु-दर्शन) के जो आठ अङ्ग शास्त्र ने बतलाये हैं, इनके

अनुष्ठान के विना हृदय की गाँठें नहीं खुलतीं। अज्ञान, अविद्या, रागादि क्लेश और अशुद्धि का नाश नहीं होता। इनके नाश के विना प्रभु-दर्शन नहीं हो सकता। इन आठ अंगों में प्रधान अंग 'यम' है।

योग-दर्शन ने तो यमों का पहला स्थान आत्म-दर्शन के लिये रखा है, परन्तु मेरा यह अटल विश्वास है कि आधुनिक संसार के सारे क्लेशों, दुःखों और विपत्तियों का अंत करने का एकमात्र साधन भी ये यम ही हैं। अमेरिका, रूस, इंगलैंड योरुप और एशिया के दूसरे सारे देशों के विद्वान् संसार के जिस भय, अशांति, भूख और असन्तोष को सहस्रों योजनायें वना कर भी दूर नहीं कर पाये, उन सब का अंत योग की यह पहली श्रेणी ही कर सकती है। अब यम के पांचों अंगों पर दृष्टि डालिये :—

अहिंसा

मन, वचन और कर्म के द्वारा गन्दी मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी का मानसिक या शारिरिक हानि या पीड़ा पहुँचाना हिंसा है और सार प्राणियों के हित के लिये मन, वचन तथा कर्म द्वारा पवित्र मनोवृत्तियों से कार्य करना अहिंसा है। अहिंसा के अर्थ यह नहीं कि भीरू, कायर और दुर्बल की तरह अत्याचार सहन करते चले जाओ। अहिंसा यह भी नहीं है कि धर्म, जाति और देश पर आक्रमण करने वालों के आगे हाथ जोड़े जायें। न ही अहिंसा यह है कि यदि अनाचारी, डाकू, पापी, दुर्जन अबलाओं पर अत्याचार कर रहे हों, माताओं को अपमानित कर रहे हों, धन-सम्पत्ति लूट रहे हों, भयभीत जनता को उनके घरों से निकाल कर, स्वयं उन पर अधिकार जमा रहे हों, और हम कायरों की भांति खड़े देखते रहें। अहिंसा यह भी

नहीं है कि कोई पागल अपने शस्त्र से अपने को और दूसरों को घायल कर रहा हो, तो मैं फिर भी उसका शस्त्र न छीनूं। यदि कोई पुरुष ऐसी बातों को अहिंसा कहता है, तो वह शास्त्र के मर्म को नहीं समझता। हिंसा शब्द 'किसी के प्राण ले लेना' और 'किसी को न मारना' ही के अर्थों में नहीं आता।

वास्तव में अहिंसा या हिंसा का सम्बन्ध मनोवृत्ति से है। एक कुशल और योग्य डाक्टर रोगी का पेट चीरता है। या टांग काट देता है, दांत उखेड़ देता है, एपैण्डिक्स का आप्रेशन करता है और ऐसा करते हुए कुछ रोगियों की मृत्यु भी हो जाती है, तो क्या ऐसे डाक्टर को आप हिंसक कहेंगे ? कदापि नहीं। क्योंकि वह यह सारा कार्य सात्विक-वृत्ति से कर रहा है। सच्चा क्षत्रिय जब युद्ध में देशद्रोहियों का हनन करता है, तो वह हिंसा नहीं करता; अपितु पुण्यलोक का भागी होता है। वेद ने आदेश किया है :—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

(ऋ० १०—१५४—३)

"जो संग्रामों में युद्ध करने वाले हैं, जो शूरवीरता से शरीर को त्यागने वाले हैं, और वे जिन्होंने सहस्त्रों दक्षिणायें दी हैं, तू उनकी गति को प्राप्त हो।"

ऋग्वेद में ही यह प्रार्थना आती है :—

ओ३म्। आसंयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृधाम।

(ऋ०—६—२२—१०)

"हे इन्द्र ! शत्रुओं के मारने के लिये हमें संयम वाला बहुत बड़ा और सदा बना रहने वाला कल्याण दे।"

और फिर ऋग्वेद के ये मन्त्र तो हिंसकों का सर्वथा हनन करने का कितना उत्साहजनक पाठ पढ़ाते हैं:—

वि रक्षो विमृधो जहि वि वृत्रस्य हनूरुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः॥

(ऋ०—१०—१५५—३)

"हे वीर ! राक्षसों का संहार कर। हिंसकों को कुचल डाल। दुष्ट शत्रुओं की दाढ़ें तोड़ दे। जो तुम्हें दास बनाना चाहें, उन वैरियों के क्रोध को चूर कर दे।"

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मिवीरिणीन्द्रपत्नी
मरुत्सखाविस्मादिन्द्र उत्तरः॥

(ऋ० १०-८६-६)

"अरे यह घातक मुझे अबला समझे बैठा है ! मैं अबला नहीं, वीरांगना हूं। वीर की पत्नी हूँ। मौत से न डरने वाले मेरे सखा हैं। मेरा पति संसार में अपनी तुल्यता नहीं रखता।"

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु॥

(अथर्व० ४—३—२)

"अरे भेड़िये ! मुझ से दूर रहना। अरे चोर ! मुझ से दूर रहना। ओ सांप ! मुझ से दूर रहना ! ओ पापी ! मुझ से दूर

रहना। सावधान, क्यों मेरे पास आकर अपने जीवन से हाथ धोना चाहते हो?"

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्
नत्वा रक्षांसि पृतनासुजिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो
मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥

(अथर्व० ५—२९—११)

"सदा ही हे वीर! तू राक्षसों का संहार करता आया है। राक्षस तुझे युद्धों में जीत नहीं सके। अपनी इस परम्परा को स्थिर रख। उन मार-काट मचाने वाले मांस-भक्षी राक्षसों को भस्म कर दे। देख, वे तेरी चमचमाती हुई तलवार से बचने न पायें।"

इन पवित्र मन्त्रों में हिंसा का आदेश है। जिस प्रकार स्वरक्षा-निमित्त मिले शस्त्र को एक उन्मत्त पुरुष जब अपने ही को हनन करने के लिये प्रयोग करने लगता है, तो वह उससे छीन लिया जाता है; इसी प्रकार मनुष्य-चोला, जो आत्म-कल्याण के लिये था, यदि दूसरे की या अपनी हानि के लिये प्रयोग किया जाने लगा है, तो ऐसे व्यक्ति का भला इसी में है कि वह चोला उस से छीन लिया जाये। यह हिंसा नहीं, हिंसा का अन्त करना है। परन्तु यह सारा कार्य राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, भय, ईर्षादि वृत्तियों से उसी प्रकार सर्वदा पृथक् होना चाहिये, जैसे कि चीर फाड़ करनेवाले डाक्टर का होता है।

हिंसा तीन प्रकार की बतलाई जाती है:—

१—आध्यात्मिक

२—मानसिक

३—शारीरिक।

आध्यात्मिक हिंसा वह है, जिस से अपने आत्मा को मलिन कर लिया जाये। जब गन्दी मनोवृत्ति से दूसरों को हानि पहुंचाने का यत्न होगा, तो ऐसा करने वाला आत्मघाती हो जायेगा और ईशोपनिषद् के कथनानुसार वह घने अन्धेरे से ढका हुई नीच योनियों में भेज दिया जायेगा।

मानसिक हिंसा यह है कि मन द्वारा दूसरे के प्रति बुरा चिन्तन करना। मन द्वारा यदि मैं किसी अन्य के लिये बुरे विचार करता हूं, तो वे बुरे विचार मेरे मन को कलुषित कर देंगे और मैं स्वयं अपने मन की हिंसा करने वाला बन जाऊंगा।

शारीरिक हिंसा यह है कि अपने शरीर द्वारा किसी को हानि पहुंचाना, या किसी का प्राण हरण कर लेना। इस सब प्रकार की हिंसा से बचने के लिये ईषोपनिषद् ने जो मार्ग बतलाया है, उसी का अनुसरण सबको करना चाहिये।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(यजु० ४०—६)

"जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही (या अपने आत्मा से पृथक् नहीं) निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखता है (या सम्पूर्ण प्राणियों में आत्म-स्वरूप को देखता है) उसके पश्चात् वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता।"

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(यजु॰ ४०—७)

"जिस समय परब्रह्म परमेश्वर को भली भांति जानने वाले ज्ञानी पुरुष के लिये सम्पूर्ण प्राणी आत्मा ही (अपना आप ही) हो चुकते हैं, उस अवस्था में एकत्व देखने वाले उस पुरुष के लिये कौन-सा मोह रह जाता है और कौन-सा शोक ?"

यह है, अहिंसा का सच्चा स्वरूप। जब मनुष्य प्राणीमात्र को अपना ही अंग समझने लगे, अपने से पृथक किसी को जाने ही नहीं, तब वह किसी से भी घृणा कैसे कर सकता है। और जब वह किसी से भी घृणा नहीं करेगा, तो यम के पहले साधन अहिंसा के व्रत को वह पूरा कर लेगा। तब अपनी प्राण रक्षा के लिये किसी भी प्राणी के प्राण हरण करने की भावना कहां रहेगी ! तब अपनी या अपने परिवार की पेट-पूजा और वैभव के लिये किसी दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार ही कहां रहेगा ! तब अपना स्वार्थ सामने नहीं रहेगा, न स्वार्थ-सिद्धि के लिये किसी को कष्ट-क्लेश पहुँचाया जा सकेगा; अपितु सब प्राणियों के सुख और कल्याण के लिये अपनी आहुति देने की भावना आ जायेगी। यही वास्तविक अहिंसा है।

सत्य

योग-दर्शन के भाष्यकार श्री व्यास जी ने सत्य के संबन्ध में लिखा है, "जैसी कोई वस्तु हो; वाणी और मन के द्वारा वैसा ही व्यवहार होना, या जैसा देखा जैसा अनुभव किया हो, और जैसा सुना हो, जैसा ही कथन करना, और धारण

करना, तथा जिससे सब प्राणियों का उपकार हो, और जिससे किसी प्राणी की हानि न हो, उसे पीड़ा न हो, उसका नाश न हो, वह सत्य है। यदि इस प्रकार कही हुई वाणी भी प्राणियों का नाश करने वाली हो, तो वह सत्य नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि केवल यथार्थ बात का कह देना ही सत्य नहीं है; अपितु ऐसी वाणी बोलनी चाहिये, जोकि किसी के मन को पीड़ित न करे।

महाभारत शांतिपर्व में यह श्लोक आता है:—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं एतत्सत्यं मतं मम॥

"सत्य बोलना अच्छा है; परन्तु सत्य से भी ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वही हमारे मत में सत्य है!" सत्य का भाव यह भी है कि सारे संसार में जो सार और सत्व वस्तु है, उसी को ग्रहण करना चाहिये। संसार स्वयं, और संसार के सकल पदार्थ, जो दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, ये एक समय में नहीं थे। या अव्यक्त थे। एक समय ऐसा आयेगा, जब ये नहीं रहेंगे। जो पदार्थ बना है, वह नाश भी होगा। इन पदार्थों में आसक्त न होकर, केवल एक सत्य आत्मा ही के साथ प्रेम करना भी सत्य है। सत्य ही को अपनाओ, अनृत को नहीं; परन्तु बोलते समय जहां सत्य को सामने रखो, वहां यह भी याद रखो कि आपका सत्य कहीं आपको हिंसा का अपराधी तो नहीं बना रहा है।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यप्रियम्।
(मनु०)

"सत्य बोलो। प्रिय बोलो। वह सत्य न बोलो, जो अप्रिय हो।"

सत्य बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, वाके हृदय आप॥
सत्य बिना नहीं दान है, सत्य बिना नहीं तप।
सत्य हीन पूजा वृथा, सत्य हीन नहीं जप॥

महाभारत आदि पर्व के ७४ वें अध्याय में तो यहां तक कह दिया है:—

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलयाधृतम्।
अश्वमेध सहस्रेभ्यः सत्यमेव विशिष्यते॥

यहां सहस्रों अश्वमेध यज्ञों से भी बढ़ कर सत्य को बतलाया गया है। महाभारत में सत्य से बढ़ कर और कोई धर्म और झूठ से बढ़ कर और कोई पाप नहीं माना गया। शान्ति पर्व में आता है:—

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।

वेद भगवान् ने तो परमात्मा के सम्बन्ध में यह आदेश किया है कि परमात्मा को सत्य ही प्यारा है। इसी लिये भगवान् ने मनुष्यों के हृदय में सत्य के लिये श्रद्धा पैदा की और असत्य के लिये अश्रद्धा। हमारा इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि सत्य पर चलते हुए प्राण भी त्याग दिये गये। पत्नी भी और पुत्र भी, राज्य और वैभव भी, तथा सुख और आराम भी। सत्य पर जो मनुष्य आरूढ़ हो जाता है, उसके सम्बन्ध में योग-दर्शन में यहां तक लिखा है कि मन, वचन और कर्म के

द्वारा जो सत्य में स्थित हो जाता है, ऐसे सत्यवादी की वाणी अमोघ हो जाती है। वह जो कहता है, वही हो जाता है। वह जो आशीर्वाद किसी को दे, वह सत्य सिद्ध होता है।

अस्तेय

साधारणतः 'अस्तेय' के अर्थ चोरी न करने के होते हैं; परन्तु अस्तेय शब्द के केवल यही अर्थ नहीं। पराये धन को हथियाने के लिये मन, वचन और कर्म द्वारा प्रयत्न या उपाय करना तो स्तेय है ही; इसके अलावा इसके विशाल अर्थों की ओर भी ध्यान दें, तो आज-कल की दुनिया इसी में जकड़ी हुई नजर आती है। यदि एक इस 'अस्तेय' पर ही दुनिया अमल करने लगे, तो पूंजीवाद, समाजवाद, वर्गवाद, साम्यवाद और मतमतान्तर सब के सब एक दम समाप्त हो सकते हैं।

अन्यायपूर्वक किसी की सम्पति, राज्य, धन या अधिकार को छीन लेना स्तेय कहलाता है। जो पूंजीपति गरीबों का रक्त चूस कर धन बना रहे हैं, जो मिल-मालिक मजदूरों को कम मजदूरी देते हैं, जो राज्य-अधिकारी अपने भारी भरकम वेतनों और अपने गुट को प्रबल बनाने के लिये प्रजा पर भारी टैक्स लगाते हैं, जो व्यापारी लोभवश अन्न के भण्डार जमा करके उनकी कीमतें बढ़ा देते हैं, जो दुकानदार खाद्य वस्तुओं अन्न, घी, तेल, औषधि इत्यादि में मिलावट करके धन कमाते हैं, वे जात्याभिमानी, जो निर्बलों को उन्नति नहीं करने देते, वे राज्य कर्मचारी जो लोभवश प्रजा की जेबें खाली करते हैं; रिश्वत लेते या देते हैं, वे व्यापारी, जो जनता की आवश्यकताओं का दुरुपयोग करके चोरबाजारी द्वारा रुपया बटोरते हैं, वे कपटी जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरे देशों और जातियों में फूट पैदा

करते हैं, दूसरे देशों को निर्बल बनाने के लिये उनके टुकड़े २ करके विभाजन कर देते हैं, वे छली जो नाना प्रकार से भोले-भाले लोगों को ठगते हैं, जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये सत्य-शास्त्रों में मिलावट करके अपने नये मत खड़े करते हैं, अपनी आय बनाये रखने के लिये जनता को झूठ और भ्रम-जाल में फंसा कर रखते हैं, तथा वेद के सत्य अर्थ को छिपा कर जो अनर्थ करते हैं, ये सब के सब लोग स्तेय (पाप) के भागी बन रहे हैं। मेरा पूर्ण विश्वास है कि स्तेय को आज संसार से निकाल दिया जाये और अस्तेय को अपना लिया जाये, तो फिर संसार में कोई युद्ध नहीं हो सकेगा। जब अस्तेय पर आचरण होने लगेगा, तब संसार में न अन्न की कमी रहेगी न सोने चांदी की। संसार के प्रत्येक परिवार में धन, धान्य और ऐश्वर्य के भण्डार, गौएँ, घोड़े, मोटरें और वैभव के सब पदार्थ आवश्यकतानुसार प्राप्त होने लगेंगे।

"योग-दर्शन" में अस्तेय का जो फल लिखा है, वह यही है:—

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्व रत्नोपस्थानम्।

(यो० साधनपद ३७)

"अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रत्नों की प्राप्ति होती है।"

सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु को रत्न कहते हैं। जिस व्यक्ति ने लोभ छोड़ दिया है, दूसरे का धन लूटने की कोई भावना जिसमें नहीं रही, जो धन से दूर भागता है, धन उस की ओर भागता आता है। स्वामी रामतीर्थ ने अपने अनुभव से कहा था:—

भागती फिरती थी दुनियां, जब तलब करते थे हम।
जब से नफरत हमने की, वह बेकरार आने को है॥

जब एक व्यक्ति के त्याग से, निर्लोभ हो जाने से, अस्तेय पर दृढ़ स्थित हो जाने से, अपने आप रत्न मिलने लगते हैं, तो जब दुनिया के सारे मनुष्य इस मार्ग पर चल पड़ें, तब दुनिया के सारे आर्थिक संकट क्यों न दूर हो जायेंगे। जब आर्थिक संकट न रहे, सब को भरपूर कोष मिल गया, तब युद्ध की आवश्यकता भी कहां रहेगी?

ब्रह्मचर्य

इन्द्रिय संयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना तथा हर समय यह भावना बनाये रखना कि मैं ब्रह्म की गोदि में सुरक्षित हूं, ब्रह्मचर्य कहलाता है।

ब्रह्मचर्य की कीमत आंकने से पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिस वीर्य की रक्षा के लिये यहाँ आदेश हुआ है, वह क्या वस्तु है? स्त्री-पुरुष, बालक, युवक जो कुछ अन्न, दूध, फल इत्यादि खाते हैं, वह जब पेट में पहुँचता है, तो उस में एक वैज्ञानिक क्रिया होने लगती है। एक प्रकार का तेजाब उस खाने में जा मिलता है। तब वह जठराग्नि से पकता है और पक कर रस बनता है। यह रस फिर भट्टी पर चढ़ता है और उस रस से रुधिर (रक्त) बनता है। इसी प्रकार रुधिर से फिर मांस बनता है। मांस से चर्बी तैयार होती है। चर्बी से अस्थि (हड्डी) बनती है। अस्थि से मज्जा बनती है और मज्जा से वीर्य बनता है। इतनी अवस्थाओं और नाना प्रकार की भट्टियों में पकते-पकते चालीस दिन के पश्चात् वीर्य बनता है।

ऐतरेयोपनिषद् के दूसरे अध्याय के पहले मन्त्र में कहा है:—

यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः ।

"जो यह वीर्य है, वह पुरुष के सम्पूर्ण अंगों से उत्पन्न हुआ तेज है।"

इतनी कठिनाई से मिला हुआ यह रत्न सुरक्षित रखना चाहिये या नहीं? एक इतर निकालने वाला गन्धी एक मन गुलाब के फूलों का पहले अर्क निकालता है। उस अर्क को फिर भट्टी पर चढ़ा कर उसका अर्क खींचता है। इसी प्रकार दस-बीस वार उसे भट्टी पर चढ़ाता है, तो अन्त में मन भर फूलों का इतर कुछ तोले ही पल्ले पड़ता है। इतना धन व्यय करके, इतना परिश्रम करके, जो इतर प्राप्त हुआ है, क्या गन्धी उसे गन्दी नाली में फैंक देगा? या उसे सम्भाल कर रखेगा और उसकी पूरी कीमत वसूल करेगा? वीर्य एक अनमोल रत्न है। जो इस की रक्षा करते हैं और फिर इसका सदुपयोग करते हैं, उनके सम्बन्ध में वेद ने कहा है कि वे मृत्यु को भी जीत लेते हैं। अथर्व वेद के ११ वें काण्ड के पाँचवें सूक्त में यह आदेश है:—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥१६॥

"देवता ब्रह्मचर्य से और तप से मृत्यु को सदा मार भगाते हैं। इन्द्र ब्रह्मचर्य से देवताओं के लिये दिव्य प्रकाश लाता है।"

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।

(अथर्व० ११—५—१७)

"ब्रह्मचर्य से और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है।"

आप कह सकते हैं कि सन्यासी, ब्रह्मचारी इत्यादि तो

ब्रह्मचर्य की रक्षा कर सकते हैं, परन्तु गृहस्थी तो ऐसा नहीं कर सकते। यह बात यथार्थ नहीं; क्योंकि वीर्यरक्षा जितने अच्छे ढंग से गृहस्थी रक्षा कर सकते हैं, उतना दूसरे नहीं कर सकते। वीर्यरक्षा का दो बातों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे हैं—

(१) आहार और

(२) विचार।

इनमें आहार पर गृहस्थी पूरा काबू रख सकते हैं। विचार सब के लिये बराबर हैं। सन्यासी को तो जैसी भिक्षा मिले; उसी पर निर्वाह करना होता है; परन्तु गृहस्थी तो आहार पर अधिकार रखता है। ब्रह्मचर्य का नाश करने वाले या वीर्य को हानि पहुंचाने वाले, जो पदार्थ हैं; उनको वह सेवन न करे। इसी प्रकार गन्दे सिनेमा न देखें। न ही इस प्रकार की पुस्तकें पढ़े। न ऐसी संगत करे। इस प्रकार से अपने अमूल्य रत्न की रक्षा करके गृहस्थी फिर देश और जाति का चांद बनने वाला पुत्र और शोभा पाने वाली पुत्री पैदा करे। गृहस्थाश्रम के कर्तव्य को पूर्ण करते हुए नर-नारी यदि मर्यादा में रहें, तो वे भी ब्रह्मचारी कहलाते हैं। ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है:—

"जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थी भी ब्रह्मचारी के सदृश है।"

गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का यह मतलब नहीं कि वीर्य रक्षा की आवश्यकता नहीं रही। वीर्य-रक्षा के बिना तो गृहस्थ-कार्य चल ही नहीं सकता। जो लोग यह समझते हैं कि विवाह करके वीर्यनाश करने की उन्हें खुली छुट्टी मिल गई, वे न केवल अपने लिये, अपितु अपनी पत्नी और सन्तान के लिये रोगों,

आपत्तियों और अकाल-मृत्यु का द्वार खोल देते हैं। गृहस्थी पुरुषों को यह तथ्य सदा सामने रखना चाहिये कि पत्नी कामवासना की पूर्ति के लिये नहीं; अपितु आपकी जीवन-यात्रा को सफल बनाने के लिये है। अतएव स्त्री जब गर्भवती हो जाये तो फिर पुरुष का यह धर्म हो जाता है कि वह ब्रह्मचारियों वाला जीवन व्यतीत करे और स्त्री-सम्बन्ध न करे। ऐसी अवस्था में सम्बन्ध करने से सन्तान व्यभिचारिणी होती है और अपनी शक्ति का भी व्यर्थ ह्रास होता है। देवियों के मन की अभिलाषा यही होती है कि उनके पतिदेव दीर्घ-आयु वाले हों। सदा स्वस्थ रहें। ऐसी देवियों का कर्तव्य है कि वे अपने पति का ध्यान प्रभु-भजन और परोपकार के कामों में लगा कर, उनको काम-वासना से बचाये रखें। गृहस्थ होते हुए पति-पत्नि जितना अधिक संयम से रहेंगे, वीर्य को सुरक्षित रखेंगे, सदा सात्विक भोजन करेंगे, खोटी संगत से बच कर सत्संग करते रहेंगे, वे उतना ही गृहस्थ-आश्रम को स्वर्गधाम बना लेंगे। बहुत अधिक सन्तान का कोई लाभ नहीं। सन्तान चाहे थोड़ी ही हो, परन्तु स्वस्थ, सुन्दर, मेधावी, पराक्रमी, बलवान् और धर्मात्मा हो। तभी गृहस्थ-आश्रम सफल होता है।

इसके साथ यह भी विचारना चाहिये कि आधुनिक दुनिया की क्या अवस्था हो रही है। अन्न-संकट भयानक रूप धारण करता चला जा रहा है। जन-संख्या निरन्तर बढ़ती चली जा रहा है। जन-संख्या के निरन्तर बढ़ते चले जाने से गम्भीर समस्यायें सामने आ खड़ी हुई हैं। कुछ समय हुआ, प्रोफेसर जुलियन हक्सले ने लन्दन के वैज्ञानिकों की सभा में यह बतलाया था कि दुनिया की जन-संख्या बहुत बढ़ती जा रही है। दुनिया में हर तीन सैकण्ड के पश्चात् दो व्यक्ति बढ़ जाते हैं।

दूसरे शब्दों में एक दिन में साठ हजार व्यक्ति दुनिया में अधिक हो जाते हैं। एक वर्ष के ३६५ दिनों में दो करोड़ उन्नीस हजार व्यक्ति दुनिया में बढ़ रहे हैं। यदि जन-संख्या के बढ़ने की यही रफ्तार रही, तो दुनिया में मनुष्यों के रहने तथा खाने की समस्या हल नहीं हो सकेगी।

विचारिये कि इस गम्भीर परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या है? कर्तव्य यही है कि कुछ लम्बे काल के लिये अधिक सन्तान पैदा करने का विचार छोड़ दिया जाये। इस के दो बड़े लाभ ये होंगे कि दुनिया की समस्या के हल करने में आप सहायक बनेंगे और दूसरे अपनी वीर्य रक्षा से आप को लौकिक तथा अलौकिक सफलता भी मिलेगी।

अथर्व वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में तो यहां तक आदेश है कि ६३६६ देवता ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं और ब्रह्मचारी पृथ्वी तथा द्यु लोक को जनता के अनुकूल बना लेता है। सब से बढ़ कर यह कि वह प्रभु-दर्शन पाता है। इस सूक्त का दसवां मन्त्र तो स्पष्ट कहता है :—

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्टाद्
गुहानिधि निहितो ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥

(अथर्व० ११—५—१०)

"ब्रह्म-ज्ञान के दो कोष ब्रह्मचारी की बुद्धि में निहित हैं। एक समीप है और दूसरा हृदयाकाश की पीठ से परे। उन दोनों की ब्रह्मचारी अपने तप से रक्षा करता है और विद्वान् ब्रह्मचारी उस केवल ब्रह्म को प्रत्यक्ष करता है।"

मनुष्य शरीर में पांच कोष बतलाये जाते हैं:—

(१) अन्नमय कोष (२) प्राणमय कोष, (३) मनोमय कोष, (४) विज्ञानमय कोष (५; आनन्दमय कोष।

इन पांच में से प्रभु-दर्शन से सम्बन्धित दो कोष हैं–विज्ञानमय और आनन्दमय कोष। विज्ञानमय तो बुद्धि के समीप है और आनन्दमय हृदयाकाश से परे। ब्रह्मचर्य द्वारा गृहस्थी होते हुए भी जिसने वीर्य का कोष एकत्र कर लिया है, वह ब्रह्मचारी विज्ञानमय कोषों की रक्षा करता हुआ ब्रह्म का साक्षात्कार करने के योग्य बन जाता है। बताइये, इतना बड़ा लाभ जिस अमूल्य रत्न की रक्षा से होता हो, क्या उस रत्न को सम्भाल कर नहीं रखना चाहिये? क्षण भर के कल्पित सुख के लिये जोकि वास्तव में दुखों का द्वार ही है, इस रत्न को खो देना कहां की बुद्धिमत्ता है?

महाशोक यह है कि आजकल का संसार इस अत्यन्त उपयोगी रत्न की ओर से सर्वथा उलटा जा रहा है। अपने अनमोल मोतियों को कौड़ियों से भी कम कीमत के बदले लुटाता चला जा रहा है। युवकों और युवतियों को सम्भलना चाहिये और इन रत्नों की रक्षा में भरसक प्रयत्न करना चाहिये। संसार के आधे से अधिक रोग तथा कष्ट केवल ब्रह्मचर्य पालन से ही दूर हो सकते हैं। फिर इतने अस्पतालों, इतने औषधालयों और डाक्टरों की आवश्यकता नहीं रहेगी। दवाओं का खर्च सर्वथा कम हो जायेगा और यही धन दूसरे अच्छे कार्यों के लिये उपयोग किया जा सकेगा।

अपरिग्रह

यम के चार व्रतों का कुछ वर्णन हो चुका, अब पांचवें व्रत पर विचार कीजिये। यह साधन तो आधुनिक-काल के संसारी

जीवों की लग-भग सारी जटिल-समस्याओं को सुलझाने का अचूक साधन है। अपरिग्रह का प्रयोजन यह है कि भोग के साधनों के संग्रह के लोभ से दूर रहना और किसी पर अपना कब्जा न जमाना। आजकल दुनिया परिग्रह के पाप से पीड़ित हो रही है। बड़े-बड़े देश परिग्रह में फंस कर पर-पीड़न का कारण बन रहे हैं। एक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिये, अपने धर्म कार्यों के लिये, अपने समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये, जितनी सामग्री चाहिये, यदि वह उस से अधिक जमा करता है, तो वह परिग्रह में फंसता है। परिग्रह ही आज यह दृश्य दिखला रहा है कि एक ओर तो तन ढांपने के लिये वस्त्र नहीं, और दूसरी ओर वस्त्रों का इतना भण्डार है कि उस की रक्षा के लिये चौकीदार, पुलिस तथा सेना रखनी पड़ती है। एक व्यक्ति बीसयों मकानों, कोठियों और बंगलों का स्वामी है, दूसरे के पास सर छिपाने, धूप-पानी से बचने के लिये, एक कुटिया भी नहीं। एक ओर सोने चांदी, धन के ढेर हैं, दूसरी ओर विष खरीदने के लिये भी पैसा नहीं है। एक ओर अन्न के गोदाम भरे पड़े हैं, दूसरी ओर अकाल-पीड़ित भूख से तड़पते और सड़कों पर एड़ियां रगड़ते हुए मृत्यु का गास बन रहे हैं।

अंग्रेजी-राज्य में जब बंगाल में अकाल पड़ा, तो मैंने वहां देखा कि फौजी गोदामों में सहस्रों टन चावल पड़ा है और जनता भूख से मर रही है। डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने मुझे बतलाया कि दुर्भिक्ष की यह आपत्ति प्रभु की ओर से नहीं, अपितु यह तो लोभी मनुष्य ही की कृपा का परिणाम है। आर्य प्रादेशिक प्रति निधि सभा ने तब साढ़े तीन लाख रुपये के

चावल बंगाल के दुर्भिक्ष पीड़ित बंगालियों के लिये भेजे थे। इन चावलों में से दो वैगनें वहां के तब के मन्त्री-मण्डल के एक व्यक्ति ने चोरबाजार में बेच डालीं। क्षुधा-पीड़ित बालकों, देवियों और पुरुषों का रुदन भी ऐसे लोभियों को सन्मार्ग नहीं दिखला सका। यह हैं, परिग्रह के भयंकर परिणाम।

संसार में आजकल वर्गवाद का जो संघर्ष चल रहा है, पूंजीपति एक ओर तथा मजदूर दूसरी ओर एक दूसरे के सर्व-नाश की तैयारियां कर रहे हैं, यह सब परिग्रह की ही कृपा है। इस रोग की दवा अपरिग्रह है। एक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी आवश्यकताओं से अधिक संग्रह न करे और समष्टि को चाहिये कि वह अपनी फालतू सामग्री वहां भेज दे, जहां इसकी जरूरत है। प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि मैं किसी भी वस्तु का स्वामी नहीं सारे संसार की सारी वस्तुओं का स्वामी केवल ईश्वर है।। भूमि उसकी है। सोना चांदी उसके हैं। समुद्र उसके हैं। वन-पर्वत उसके हैं। नदियां उसकी हैं। अन्न उसी की पृथ्वी तथा जल से मिलता है। मैं तो केवल भोग करने वाला हूं। फिर वह परिग्रह के पाप का भागी नहीं बनेगा।

रोटियां तो दो, तीन या चार ही खानी होती हैं, चाहे किसी के पास सेर भर आटा हो या हजार मन। इससे अधिक तो खाना मृत्यु को शीघ्र बुलाना है। तब लोभ क्यों? यही लोभ परिग्रह है। इस लोभ से बचना अपरिग्रह है। विचार कीजिये, संसार को आज अपरिग्रह की आवश्यकता है या नहीं? क्या दुःखी संसार के रोगों का यह अचूक निदान नहीं है? अपरिग्रह का रूप एक कवि ने बहुत सरल शब्दों में यह बतलाया है:—

साईं इतना दीजिये, जा में कुटुम्ब समाये।
मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाये॥

अपरिगृह का दूसरा भाव यह है कि "बलात्कार से विषयों में गमन करने वाली जो इन्द्रियां हैं, उन पर पूरा अधिकार रखना और उन्हें जबरदस्ती विषयों में न जाने देना" इसे भी अपरिग्रह कहते हैं।

यम का अर्थ है, वश में करना, शासन करना और मर्यादा में रखना। मृत्यु के देवता को भी यम इसी लिये कहते हैं कि वह सब को मर्यादा में स्थिर रखता है। यम के इन पांच व्रतों में से एक-एक व्रत संसार का कल्याण करने वाला है। यदि संसारी लोग इन पांचों व्रतों को प्रयोग में लायें, तो दुनिया एक बार फिर अपनी मर्यादा में स्थिर हो जायेगी और इस की सारी विकट उलझनें भी सुलझ जायेंगी। योग-दर्शन ने समाधि अवस्था तक पहुँचने के लिये योग के आठ अंगों में से सब से पूर्व यमों का वर्णन किया है। साधन पाद के ३१ वें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि ये किसी एक देश, एक समय, एक जाति या एक काल के लिये नहीं हैं, अपितु ये सार्वभौम हैं। सब अवस्थाओं में, सब देशों में, सब जातियों और सब मनुष्यों को इन व्रतों का पालन करना चाहिये; क्योंकि ये "सार्वभौम महाव्रत" हैं। गृहस्थी भी इनका पालन करें और ब्रह्मचारी भी। वानप्रस्थी तथा संन्यासी भी। सम्पूर्ण मनुष्य-समाज, सारे राष्ट्र, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सारे देश, सारे सम्प्रदाय और सारे मतावलम्बी इन को प्रयोग में लायें।

पांच नियम

यम के इन पांच व्रतों को जीवन में ढाल कर साधक पूछता है कि क्या अब प्रभु-दर्शन होंगे? ऐसे साधकों को ज्ञात रहना

चाहिये कि अभी पहली श्रेणी की परीक्षा दी है। अब दूसरी श्रेणी में चलो। योग-दर्शन ने यमों के पश्चात् पांच नियम बतलाये हैं, जनका उल्लेख साधन पाद के ३२ वें सूत्र में किया है :—

शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

"शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, ये नियम हैं।"

शौच

शौच पवित्रता का नाम है। शरीर को बाहर भीतर से शुद्ध-पवित्र रखनेवाला प्रसन्नचित्त रहता है। जहां गन्दगी के ढेर हों, वहां आत्म-चिन्तन तो एक ओर रहा, ठहरने को भी जी नहीं चहता। शरीर को स्वच्छ सुन्दर बनाना, इसे औषधि इत्यादि से वस्स्थ बनाये रखना, यह शरीर की शुद्धि है। शरीर के अन्दर चित्त, मन इत्यादि को पवित्र संकल्पों, विचारों से पवित्र बनाना। भीतर की शुद्धि है। पता नहीं कितने लम्बे काल से हम यह उपयोगी बातें भूल चुके हैं। हमें तो अभी ठीक-ठीक बैठना, चलना और खाना-पीना भी नहीं आता एक बार मैं एक नगर के उत्सव पर गया। वह नगर अब पाकिस्तान में है। वहां के अधिकारियों ने मुझे कहा, कि आप ने आत्मा-परमात्मा पर व्याख्यान देना है। मैंने कहा बहुत अच्छा। परन्तु जब मैं सभामण्डप में पहुंचा, तो क्या देखा कि एक कोलाहल-सा मचा हुआ है। भजनीक महाशय भजन गा रहे हैं और शोर इतना है कि शायद ही किसी के पल्ले कुछ पड़ रहा हो। यही नहीं; अपितु मैंने देखा कि सारे मण्डप में मक्खियां भिनभिना रही हैं। कहीं गन्ने के छिलके पड़े हैं। कहीं शर्बत गिरा पड़ा है। कहीं बालक शौच बैठे हैं। यह दृश्य देख कर मैंने कहा, क्या

यहां आत्मा-परमात्मा की चर्चा हो सकेगी ? जिन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि किस स्थान पर क्या करना है ? गन्दे, केले इत्यादि के छिलके कहां फैंकने हैं, उन की दौड़ आत्मा तक कैसे हो सकेगी ? यही नहीं, अपितु जिह्वा गन्दी, मन गन्दा। बिना किसी संकोच के मैंने बड़े-बड़े व्यक्तियों को अत्यन्त अश्लील गालियां बोलते सुना है। क्या ऐसे लोग आत्म-चिन्तन का अधिकार रखते हैं ? अभी शिक्षा की आवश्यकता है, जिस से जनता भीतर बाहर के शौच पर आरूढ़ हो सके। शौच से न केवल शरीर के तत्व का पता मिल जाता है, अपितु शौच साधक को आत्म-दर्शन का अधिकारी बना देता है।

सन्तोष

दूसरा नियम सन्तोष है। इसका प्रयोजन यह है कि पूरी तत्परता, पुरुषार्थ और प्रयत्न से किये कर्मों का जो फल प्राप्त हो, उससे अधिक लोभ नहीं करना। सन्तोष का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है। आलस्य और प्रमाद नहीं है। अपितु अपने कर्तव्य को पूरे पुरुषार्थ से पूर्ण करना और उसका जो फल मिले, उस पर सन्तुष्ट रहना, लालसा और तृष्णा का दास न बनना, सन्तोष है। पुरुष का धर्म पुरुषार्थ करना है। कर्म करना तो मनुष्य के अधिकार में है। अतएव प्रभु से मिले फल पर तृष्णा न बढ़ाये। इस प्रकार सन्तोष करने से योग-शास्त्र का कहना है कि उत्तम से उत्तम सुख मिलता है। तृष्णा जितनी बढ़ेगी, सुख उतना ही कम होता जायेगा। तृष्णा जितनी घटेगी, सुख उतना ही बढ़ेगा :—

चाह मिटी चिन्ता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कुछ न चाहिये, सो शाहनपतिशाह ॥

तृष्णा ऐसी आग है, जो सन्तोष के जल के बिना बुझती नहीं। सन्तोष ही इसे शान्त कर सकता है। सन्तोष न हो तो फिर यह तृष्णा इतनी भड़कती है कि भीतर बाहर सब भस्म कर देती है।

तृष्णा अग्नि प्रलय की, तृप्त न कबहुं होय।
सुर नर मुनि अरु रंक सब, भस्म करत है सोय॥

सन्तोष ही इस महादुःख से बचने का उपाय है। मनु भगवान् ने सन्तोष के सम्बन्ध में लिखा है :—

सन्तोषं परममास्थाय, सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोष मूलं हि सुखं, दुःख मूलं विपर्ययः॥
मनु० ४- १२॥

"सुख की अभिलाषा करने वाले परम सन्तोष का सहारा लेकर अपने आपको काबू में रखें। सन्तोष ही सुख की जड़ है, और इसका उलट अर्थात् तृष्णा दुःख की जड़ है।"

तप

तीसरा नियम तप है। तप का प्रयोजन यह है कि उद्देश्य-प्राप्ति के लिये कर्तव्य निभाते हुए, सुख आये या दुःख, गर्मी हो या सर्दी, नाना प्रकार के पदार्थ मिलें या भूख, मान हो या अपमान, कष्ट-क्लेश हों या आराम, इन सबको प्रसन्नता से सहन करना और अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते चले जाना।

यक्ष ने युधिष्ठर से जो प्रश्न पूछे थे, उन में से एक यह भी था कि—'तपः किं लक्षणम्?' तप के लक्षण क्या हैं? युधिष्ठर जी ने उत्तर दिया था कि "तपः स्वधर्मवर्त्तित्वम्।" अपने कर्तव्य कर्म को करते रहना ही तप है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि :—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति ।

(भृगुवल्ली दूसरा अनु०)

"तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है, अर्थात् तप ब्रह्म की प्राप्ति का पूर्ण साधन है।"

परन्तु आज-कल तो तप के भी उल्टे अर्थ लिये जा रहे हैं। केवल शरीर को पीड़ा देने ही का नाम तप रह गया है। उपनिषद् ने स्पष्ट कहा है कि :—

'तपसाऽनाशकेन'

'जो शरीर का नाशक न हो वह तप है।'

परन्तु अब तपस्वी उसी को समझा जाता है, जो अपनी बांह या टांग सुखा दे। सर्वथा नग्न रहे। पंचाग्नि तपे। महीनों भूखा रहे। जो सर्वथा अन्न छोड़ दे, या केवल फल खाये। जो अन्न, फल, दूध सब कुछ छोड़ दे, वह सब से बड़ा तपस्वी। और जो केवल वायु सेवन करे, उसका स्थान तपस्वियों में सब से ऊपर। परन्तु ऐसे सारे तप तामसी तप हैं। शास्त्र की दृष्टि में इनका अधिक मूल्य नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने योग-दर्शन में लिखा है :—

तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापद्येत् ॥

तप उतना ही करना चाहिये, जिससे धातुओं में विषमता पैदा न हो, अर्थात् वात, पित्त, कफ, कुपत्ति न हों।"

गीता ने तीन प्रकार के तप बतलाये हैं—शरीर का, वाणी का, और मन का। शरीर का तप यह है कि सात्विक आहार विहार रखें। वाणी का तप यह है कि सत्य, प्रिय और मित भाषण

करें। मन का तप यह है कि अपवित्र विचारों से मन को बचा कर, उसे शुद्ध पवित्र संकल्पों से भरपूर रखें।

स्वाध्याय

यह चौथा नियम है। ओ३म् का जप, गायत्री का तीन व्याहृतियों सहित जप, और वेद, उपनिषद् आदि पवित्र ग्रन्थों का पाठ, स्वाध्याय कहलाता है। इसके साथ ही सदा अपने जीवन की घटनाओं पर दृष्टि रखना कि मैं किधर जा रहा हूँ, नित्य अपना अध्ययन करना (आत्म-विश्लेषण) भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है।

जब वेद, उपनिषद् या किसी अन्य पवित्र-ग्रन्थ को लेकर आप स्वाध्याय करने बैठें, तो पूरी श्रद्धा, प्रेम और भक्ति भरे मन से बैठें। इस भावना से स्वाध्याय करें कि मानो आप अपनी जीवन-समस्याओं को सुलझाने के लिये भगवान् और ऋषियों से वार्तालाप करने लगे हैं। एक साधारण राज्य कर्मचारी से जब आप भेंट करते हैं, तो पूरी तन्मयता से उस की बातों में ध्यान जमाते हैं। इन पवित्र ग्रन्थों का पाठ करते समय तो आप भगवान् के पास बैठे हैं। ऋषियों का सत्संग कर रहे हैं। तब क्या पूरी एकाग्रता और श्रद्धा से आप उन की बात न सुनेंगे? ऐसी भावना से किया स्वाध्याय आपको सन्मार्ग दिखलायेगा। तैत्त० आरण्यक में लिखा है कि "स्वाध्याय पाप से बचाने वाला है।" और शतपथ ब्राह्मण ने स्वाध्याय की इतनी महिमा वर्णन की है कि स्वाध्याय को सारे पुण्य-कर्मों से, दान से और यज्ञ से भी बढ़ कर बतलाया है :—

ये हवै के च श्रमा इमे द्यावा पृथिवी अन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परमाकाष्ठा, य एव विद्वान् स्वाध्याय-

मधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य :।

(श० ब्रा० ११-५-७-२)

"इस द्यौ और पृथिवी के अन्दर जितने प्रकार के परिश्रम हैं, स्वाध्याय ही इन सब की परमकाष्ठा है, उसके लिये जो ठीक-ठीक जानता हुआ स्वाध्याय करता है, वह उत्तम है। इस लिये स्वाध्याय नियम से करना चाहिये।"

पुनः आगे चल कर इसी ब्राह्मण में कहा है :—

वह नख के अग्र तक तप तप रहा है, जो ठीक जानता हुआ स्वाध्याय करता।"

शथपथ ब्राह्मण में तो यहां तक लिखा है कि "(स्वाध्याय-शील पुरुष) एकाग्र-मन हो जाता है। पराधीन नहीं होता। दिन प्रति दिन अपने प्रयोजनों को साधता है। अपने आपका परम चिकित्सक बन जाता है। इन्द्रियों का संयम सदा एक रस रहना, ज्ञान की वृद्धि, यश, और लोगों को सुधारने तथा निपुण करने का काम, यह सब फल स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले को मिलते हैं।"

(शतपथ ब्राह्मण ११-५-७-१)

कौनसी वस्तु रह गई है, जो स्वाध्याय से नहीं मिलती? योग-दर्शन के साधन पाद के ४४ नें सूत्र में लिखा है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता का सम्बन्ध, मेल वा साक्षात् होता है।

श्री व्यास जी ने अपने भाष्य में लिखा है कि 'देवता, ऋषि और सिद्ध लोग स्वाध्याय शील के दर्शन को जाते हैं और उसके कार्य में सहायक होते हैं।'

जब स्वाध्याय से इतना कुछ प्राप्त होता है, तो क्या यह आवश्यक नहीं कि हम प्रति दिन स्वाध्याय किया करें? स्वा-

ध्याय के सम्बन्ध में मेरा अपना अनुभव यह है कि ज्ञान की भारी वृद्धि होती है। एकाग्रता प्राप्त होती है और प्रभु तथा प्रकृति के तत्व का पता लग जाता है। कितनी ही बार तो ऐसा भी हुआ कि जब जीवन-यात्रा की कोई जटिल समस्या सामने आ खड़ी हुई है और सद्भावना तथा श्रद्धा-भक्ति से वेद को खोल कर प्रभु से पूछा है कि अब मेरा मार्ग किधर है, तो वेद द्वारा भगवान् ने पथ-प्रदर्शन किया। आप भी ऐसा पथ-प्रदर्शन स्वाध्याय के द्वारा पा सकते हैं।

गायत्री-महिमा

स्वाध्याय में ओ३म् के जप तथा गायत्री मन्त्र के जप का जो विधान है, वह भी परम-लक्ष्य तक पहुँचाने वाला है। प्रभु-दर्शन का जिक्र करते हुए ओ३म् के सम्बन्ध में आगे फिर लिखूंगा। यहां गायत्री के सम्बन्ध में देवी भागवत के ये श्लोक देखिए :—

गायत्र्युपासना नित्या सर्व वेदैः समीरता।
यया विनात्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा ॥८९॥
तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्यहि।
गायत्री मात्र निष्णातो द्विजोमोक्षमवाप्नुयात् ॥९०॥

(देवी भा० १२ स्कन्ध, अ० ८)

"गायत्री ही की उपासना सनातन है। सब वेदों में इसी की उपासना और शिक्षा दी गई है, जिस के बिना ब्राह्मण का सर्वथा अधःपात हो जाता है (८९) द्विजमात्र के लिये इतने से ही कृतकृत्यता है। अन्य किसी उपासना और शिक्षा की आवश्यकता नहीं। गायत्री मात्र निष्णात द्विज मोक्ष को प्राप्त होता है ॥९०॥

गायत्री-मंत्र को जो गुरुमंत्र कहा गया है, तो इस में विशेष तथ्य है। चारों वेदों में इसका वर्णन है। ऋग्वेद ६—६२—१० का मन्त्र गायत्री मन्त्र ही है, सामवेद १३—३—३ उत्तराचिक में और यजुर्वेद में तो तीन स्थानों में गुरुमन्त्र का आदेश है :— ३—३५; ३०—२; और ३६—३ पर। अथर्ववेद में तो यह सारा रहस्य ही खोल दिया है कि यह वेद-माता, गायत्री-माता द्विजों को पवित्र करने वाली, आयु, स्वास्थ, सन्तान, पशु, धन—ऐश्वर्य, ब्रह्मवर्चस देने वाली और प्रभु-दर्शन कराने वाली है। छान्दोग्योपनिषद् ने भी इसकी महिमा का गायन किया है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र १—१—२५ पर शारीरिक भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने लिखा है:—

"गायत्री-मन्त्र के जप से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

भगवान मनु ने यह आदेश दिया है :—

"तीन वर्ष तक साधनों के साथ गायत्री का जप करते रहने से जप कर्ता को परब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

योऽधीतेऽहन्य हन्येतास्त्रीणि व र्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायु भूतः स्वमूर्तिमान्॥

(मनु० २—८२)

इसी प्रकार महाभारत भीष्म पर्व ४—१८ में और मनुस्मृति के दूसरे अध्याय के अन्य श्लोकों में भी गायत्री-मन्त्र की महत्ता प्रगट की गई है।

महर्षि व्यास का कथन है कि पुष्पों का सार मधु है, दूध का सार घृत है और चारों वेदों का सार गायत्री है। गंगा शरीर के मल धो डालती है और गायत्री-गंगा आत्मा को पवित्र कर देती है।

अत्रि ऋषि का यह कथन भी बड़ा मार्मिक है :—
"गायत्री आत्मा का परम शोधन करने वाली है।"

महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में मनु भगवान् का एक श्लोक दे कर यह आदेश किया है :—

"जंगल में अर्थात् एकान्त देश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्य-कर्म को करता हुआ, सावित्री अर्थात् गायत्री-मंत्र का उच्चारण, अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे; परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।'

चरक ऋषि ने चरक-संहिता में यह कहा है कि जो ब्रह्मचर्य सहित गायत्री की उपासना करता है, और आंवले के ताजा (वृक्ष से अभी-अभी तोड़े हुए) फलों के रस का सेवन करता है, वह दीर्घजीवी होता है।"

"गायत्री-मंजरी" में तो गायत्री ही को सब कुछ वर्णन कर दिया गया है और लिखा है :—

भूलोकस्यास्य गायत्री, कामधेनुर्मता बुधैः।
लोक आश्रयतेनाम्, सर्व मेवाध गच्छति ॥२६॥

"विद्वानों ने गायत्री को भूलोक की कामधेनु माना है, संसार इसका आश्रय लेकर सब कुछ प्राप्त कर लेता है।"

श्री पं० मदन मोहन जी मालवीय कहा करते थे कि गायत्री-मन्त्र एक अनुपम रत्न है, गायत्री से बुद्धि पवित्र होती है, और आत्मा में ईश्वर का प्रकाश आता है। गायत्री में ईश्वर-परायणता का भाव उत्पन्न करने की शक्ति है।

माण्डले (वर्मा) जेल की काल कोठरी में बैठ कर 'गीता-रहस्य' लिखने वाले बाल गंगाधर तिलक ने लिखा था—"गायत्री मन्त्र के अन्दर यह भावना विद्यमान है कि वह कुमार्ग छुड़ा कर सन्मार्ग पर चला दे।"

महात्मा गान्धी तो गायत्री-मन्त्र के निरन्तर जप रोगियों तथा आत्मिक उन्नति चाहने वालों के लिये बहुत उपयोगी बताया करते थे।

महर्षि स्वामी दयानन्दजी के जीवन के अन्दर कई बार ऐसा हुआ कि उन्होंने चित्त को एकाग्र तथा बुद्धि को निर्मल बनाने के लिये गायत्री-मन्त्र का जाप बतलाया। इतना बड़ा महत्व रखने वाला यह गुरुमन्त्र है।

स्त्रियों को गायत्री मन्त्र के जप का अधिकार

परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आधुनिक काल में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो यह कहते सुने जाते हैं कि स्त्रियों को गायत्री मन्त्र के जप का अधिकार नहीं है। यह ऐसा अनर्थ है, जिसका समाधान बहुत आवश्यक है। वेद भगवान् से लेकर पुराणों और स्मृतियों तक सब ने ही वेद में स्त्रियों का अधिकार माना है। जब वेद मन्त्रों की द्रष्टा ऋषिकायें भी हुई हैं, तब इनके अधिकार पर उंगली कौन उठा सकता है? फिर अनेक ब्रह्मवादिनी देवियों का वर्णन इतिहास में आता है। महाभारत शल्य पर्व में एक तपस्विनी का इतिहास लिखा है, जो वेदाध्ययन करने वाली और योग-सिद्धि को प्राप्त थी। इसका नाम "सिद्धा" था। भारद्वाज की पुत्री श्रुतावती वेद की पूरी पण्डिता थी। भक्त शाण्डिल्य की पुत्री 'श्रीमति' निरन्तर वेदाध्ययन में प्रवृत रहती थी। शिवा नामक ब्राह्मणी वेदों में पारंगता थी। इसी

प्रकार भारती, मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा, द्रौपदी, वयुना, धारिणी, वेदवती, कितनी ही देवियों का वर्णन आता है, जो वेद पढ़ती थीं। वेदवती को तो चारों वेद कंठाग्र थे। यही नहीं अपितु देवियों को ब्रह्मा की पदवी भी मिलती थी। जब चारों वेद पढ़ने का अधिकार देवियों को प्राप्त हैं, तो क्या गायत्री-मन्त्र वेदों से बाहर हैं ?

पुराणों ने भी स्त्रियों को अधिकार दिया है कि वेद-मन्त्र ग्रहण करें। भविष्य पुराण, उत्तर पर्व ४—१३ में लिखा है :—

या स्त्री भर्ता वियुक्तापि स्वाचारे संयुता शुभा।
साच मंत्रान् प्रगृहणतु सभर्त्रा त्वनुत्तया॥

उत्तम आचरण वाली विधवा स्त्री वेद मन्त्रों को ग्रहण करे और सधवा स्त्री अपने पति की अनुमति से मन्त्रों को ग्रहण करे

वाशिष्ठ स्मृति २१—७ में लिखा है:—

"यदि स्त्री के मन में पति के प्रति दुर्भाव आये तो उस पाप का प्रायश्चित् करने के साथ १०८ वार गायत्री मन्त्र के जपने से वह पवित्र होती है।"

ऐसे अनेक प्रमाण हैं; परन्तु विस्तार भय से वे यहां लिखे नहीं जाते, ऊपर के प्रमाण ही पर्याप्त हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जो मठधारी देवियों को गायत्री-जप से रोकते हैं, वे वेद शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सब से मुंह मोड़ते हैं।

गायत्री-मन्त्र यह है : —

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

इस पवित्र मन्त्र की व्याख्या में कितने ही ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और अभी कितने ही और लिखे जायेंगे; परन्तु इस मन्त्र की पूर्ण रूपेण व्याख्या फिर भी न हो सकेगी। क्योंकि यह सारे वेदों का सार है। परन्तु जिन साधकों ने इस क जप करना है वे बड़े-बड़े ग्रन्थों को सामने नहीं रख सकते और बिना भावार्थ के भी जप अधिक लाभ नहीं पहुंचाता। जप करने वाले को ज्ञात होना चाहिये कि मैं भगवान् के समक्ष बैठा हुआ क्या कह रहा हूँ? उस प्रियतम से क्या निवेदन किया जा रहा है? और कौन-सी मांग उस के सामने रखी जा रही है?

मैं तो 'गायत्री मन्त्र' को आत्म-समर्पण का मन्त्र समझता हूँ। जिस प्रकार एक युवती अच्छी तरह जानती हुई विवाह मण्डप में पवित्र अग्नि के सामने बैठी, पूर्ण निश्चय के साथ अपने पति-देव के आगे अपने आप को समर्पण करते हुई, पति को अपना वर बनाती है, इसी प्रकार गायत्री मन्त्र, का जप करने वाला अपने प्रियतम से कहता है कि "हे प्यारे, मैं तेरे सुन्दर शुद्ध स्वरूप का ध्यान करता हूं। तू ही वरने योग्य है। तू, जोकि सारे जगत का उत्पन्न करने वाला है, सबको प्रकाश देने वाला है, हे प्राण-प्यारे, दुःखों के दूर करने और सुखों के देने वाले रक्षक और स्वामिन्! मैं अपनी बुद्धि को तेरे अर्पण करता हूँ। इसे अपनी ओर ले चल ?"

जब एक देवी एक वार अपने पति को वर लेती है, तो फिर वह सदा के लिये उसी की हो जाती है। गायत्री-मन्त्र में उपासक या साधक भगवान् को अपना वर चुनता है और अपने आप को उसके सुपुर्द कर देता है। अब उस के हृदय रूपी सिंहासन पर सिवाय उस प्यारे प्रभु के और कोई बैठ ही नहीं

सकता। यदि प्रभु के अतिरिक्त कोई और उसमें आता है. तो जैसे देवी का पतिव्रत धर्म कलुषित हो जाता है, वैसे ही भक्त की भक्ति को भी कलंक लगता है। गायत्री-मन्त्र का जप करते-करते भक्त बार-बार प्रभु से यही याचना करता है कि मैं तेरा हो चुका। मेरी बुद्धि की नकेल तेरे हाथ में है। प्रभो! अपनी ओर ही इसे ले चल।' मन तो एक ही है न। जब यह प्रभु की भेंट दिया, तो फिर यह और कहां जायेगा? कबीर कहता है—

कबिर यह मन एक है, चाहें जहां लगाये।
भावें प्रभु की भक्ति कर, भावें विषय कमाये॥

और जब गायत्री-मन्त्र द्वारा इसे प्रभु में लगा दिया, उसी के हवाले सब कुछ कर दिया, तो फिर उसी के होकर हर समय उससे यही कहना चाहिये कि—

नैनों की कर कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डाल कर, पिय को लेऊं रिझाय॥

जब एक बार अपनी बुद्धि तथा मन प्रभु के अर्पण कर दिया तो फिर प्रभु की आज्ञा के बिना वह कोई और विचार अपने अन्दर ला ही नहीं सकेगा। जब गायत्री का पाठ करते हुए भगवान् को "भू"—प्राण-प्यारा कह दिया, तो फिर प्रभु के बिना हमारे प्राण रहेंगे कैसे? जब किसी का प्राण-प्यारा बिछुड़ जाता है, तो उसके विरह में जो अवस्था उसके प्रेमी की होती है, वही अवस्था भगवान् की भावना से क्षणमात्र दूर हो जाने वाले भक्त की भी हो जाती है। विरह का अर्थ है अपने प्रियतम के प्रेम पर मर मिटने की लगन। एक कवि का कथन है:—

उर में दाह, प्रवाह दृग, रह-रह निकले आह।
मर मिटने की चाह हो, यही विरह की राह॥

परन्तु गायत्री की साधना करने वालों को मरने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अपितु उनमें गायत्री जप तथा तदानुकूल आचरण करने से एक नया जीवन आ जाता है। हां, स्वाध्याय के इस अंग से, भक्ति की एक अद्भुत-तरंग से, वे तरंगित हो उठते हैं।

ईश्वर प्रणिधान

पांचवां नियम ईश्वर प्रणिधान है। इसका भाव यह है कि जो भी कर्म किये जायें, फल सहित उन सारे कर्मों को ईश्वर के अर्पण कर दिया जाये। इसी को भक्ति-विशेष का नाम भी दिया जाता है। यह नियम पांचों नियमों का प्राण है। इसी एक नियम को धारण कर लेने से समाधि की सिद्धि बतलाई गई है।

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागे है मोर॥

ऋग्वेद ७-३१-५ में भक्त भगवान् से निवेदन करता है:

त्वे अपि क्रतुर्मम्।

"मेरे कर्म आप ही के अर्पण हों, आप ही के लिये हों।"

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का वर्णन योग-दर्शन में तीन स्थानों पर आया है। एक तो साधन पाद के पहले ही सूत्र में, जहां इन तीनों को क्रिया-योग (अमली योग) का नाम दिया गया है, और दूसरे साधन पाद के ३२वें सूत्र में। यहाँ इन तीनों के पहले शौच और सन्तोष को भी जोड़ दिया गया है। भगवान्

पतञ्जलि की दृष्टि में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान का विशेष महत्व है उन्होंने अपने योग-दर्शन में इनका दो वार वर्णन किया है। और इनमें ईश्वर-प्रणिधान का और भी बढ़ कर महत्व है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९—२७)

"हे कुन्ती पुत्र! तुम जो कार्य करो, या भक्षण करो या यज्ञ करो, और दान करो, वह सब मुझ (परमेश्वर) ही के अर्पण करो।"

यही ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधान की भावना रखने वाला भक्त फिर जो भी कर्म करेगा, पूरी सावधानी से करेगा। वह जानता है कि यह कर्म और इस का फल प्रभु अर्पण हो जाना है। जब हम ने किसी बड़े राज्याधिकारी या साधु सन्त महात्मा को श्रद्धा से कोई वस्तु, वस्त्र, फल या मिष्ठान्न भेंट करना हो, तो प्रयत्न यही होगा कि उत्तम से उत्तम वस्तु दी जायें, फल कच्चा या गला सड़ा न हो। मिठाई शुद्ध घी की हो। यह वस्तु महाराज की भेंट करनी है। अच्छी से अच्छी ढूंढ कर ले चलो। और जब भेंट भगवान् को करनी हो, तो क्या तब यही प्रयत्न न होगा कि कोई खोटा कर्म न होने पाये। मन, वचन; कर्म ऐसे हों कि इनके द्वारा जो कुछ भी हो, उसे प्रभु के सामने भेंट करते हुए लज्जा न आये। तब तो जीवन ही पलट जायेगा। कोई खोटा या छोटा विचार निकट भी नहीं आने पायेगा। इस प्रकार ईश्वर-प्रायण हुआ हुआ भक्त, उसी के लिये खायेगा, उसी के लिये पियेगा, उसी के लिये जियेगा, और

उसी के लिये मरेगा। गीता के इस श्लोक में कितना स्पष्ट आदेश है :-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

(गीता ५—१०)

"जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा के अर्पण करके, आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह जल में कमल के पत्ते के सदृश पाप से लिप्त नहीं होता।"

जब भक्त की ऐसी अवस्था होगी तो प्रभु भी दयालु हो जायेंगे। वे भी अपने भक्त का ध्यान रखेंगे और उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते रहेंगे। आखिरकार भक्त का मनोरथ सिद्ध कर देंगे।

:ॐ:—

ओ३म् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥
(ऋ० १—२२—२०)

व्यापक प्रभु के श्रेष्ठ रूप को ज्ञानी पुरुष सदा द्युलोक में व्याप्त सूर्य की तरह देखते हैं।

[५]

किसके दर्शन ?

—:※:—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और शौच-सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान इन दस महाव्रतों और यम-नियमों के अनुष्ठान से भक्त अब इस योग्य हो गया है कि वह प्रभु-दर्शन के लिये पवित्र मन्दिर में प्रवेश कर सके। परन्तु मन्दिर में जाने से पूर्व यह तो निश्चय कर लो कि किस के दर्शन करने चले हो ? आप कहेंगे, 'दर्शन प्रभु के, और किस के ?' ठीक है। दर्शन तो प्रभु के ही करने हैं; परन्तु यह तो नाम मात्र है। वह प्रभु कैसा है ? किस कमरे में रहता है ? लाल, पीला, काला किस रंग का है ? कोई उसका रूप या हुलिया तो तो बताओ। जब तक इन बातों का ज्ञान न हो जाये, तब तक

अपने प्रियतम को कैसे पहचान सकोगे? कैसे समझोगे कि दर्शन हो गये?

याज्ञवल्क्य ने तो गार्गी से कहा था :—

"ब्रह्म के जानने वाले उसे अक्षर, अविनाशी, कूटस्थ कहते हैं। वह न मोटा है न पतला। न छोटा है न लम्बा। न अग्नि की तरह लाल है। वह बिना स्नेह के है। बिना छाया के और बिना अन्धेरे के है। वायु है न आकाश है। वह अप्रसंग है। रस से रहित, गन्ध से रहित। उसके नेत्र नहीं, कान नहीं, वाणी नहीं, मुख नहीं, मात्रा नहीं।"

(बृह० ३—७—८)

मुण्डक-उपनिषद् (२—१—७) में बतलाया गया है:—

"वह महान् है। दिव्य है। अचिन्त्य रूप है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर प्रतीत होता है। वह दूर से अधिक दूर है। तथापि यहां ही हमारे निकट है। देखने वालों के लिये वह यहीं (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ है।"

फिर इसी उपनिषद (२—२—१) में लिखा है :—

"वह हर जगह प्रगट है, निकट है। गुहाचर (हृदय की गुफा में विचरने वाला) प्रसिद्ध है। वह एक बड़ा आधार है, जिसमें यह सब पिरोया हुआ है, जो चलता है, सांस लेता है और आंख झपकता है। और यह सारा स्थूल सूक्ष्म, जो तुम जानते हो, यह सब उसी में पिरोया हुआ है। वह पूजा के योग्य है। सबसे श्रेष्ठ है। प्रजाओं की समझ से परे है।"

वेद ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

१—एतावनस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

(ऋ० १०—९०—३। यजु० ३१—३)

"इतनी बड़ी (भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल से सम्बद्ध जितना जगत है, यह सारी) इस प्रभु की महिमा है, और प्रभु स्वयम् इससे बड़ा है। (तीनों काल में होने वाले) सारे भूत इस का एक पाद हैं और इसका (शेष) त्रिपाद जो अमृत अविनाशी स्वरूप है, वह अपने प्रकाश में है।"

प्रयोजन यह है कि उसकी सीमा तो कोई है नहीं। हां, कुछ दिग्दर्शन कराने के लिये कह दिया कि यह सारी दुनिया, ये सारे लोक, ये सारी पृथिवियां, ये सारे नक्षत्र इत्यादि ये सब के सब, उसके एक पैर में आते हैं। बाकी तीन पैर अभी और हैं।

२—इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १—१६४—२२)

"उस एक शक्ति को अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वही दिव्य सौंदर्य का भंडार है। उसी प्रकाशस्वरूप प्रभु को यम और मातरिश्वा कहते हैं।"

३—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।

(यजु० ३२—१)

"वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु, वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही जल और वही प्रजापति है।"

४—यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्
यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥

(ऋ० २—१२—२)

"जिसने (आदि में पिघली हुई होने के कारण) लहराती हुई पृथिवी को दृढ़ जमा दिया, और जिसने प्रकुपित हुए (आदि में अग्नि वर्षण करते हुए) पर्वतों को शान्त किया, जिसने अन्तरिक्ष को बड़ा विशाल बनाया, जिसने द्यौ को धारण किया; हे मनुष्यो ! वही शक्तिशाली प्रभु है।"

५—यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति
घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

(ऋ० ३२—१२—५)

"जिस के विषय में पूछते हैं कि वह कहां है; और कई यहां तक कह देते हैं कि वह नहीं है। वही है जो कि भयंकर बन कर ऐसे शत्रुओं (घमण्ड में उसकी प्रजा को पीड़ित करने वालों) की पुष्टियों को पत्तियों की तरह मरोड़ डालता है। उसके लिये श्रद्धा रखो। हे मनुष्यो ! वही शक्तिशाली प्रभु है।"

६—यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य
यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।

युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः
सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥

(ऋ० २—१२—६)

"जो दीन दुःखियों को हिम्मत बंधाता है, जो विपद्-ग्रस्त-भक्त की पुकार सुनता है, जो यज्ञमय जीवन-धारियों का प्रतिपालक है, लोगो! वही सुन्दर है, छबीला देव इन्द्र है।"

७—यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व १०—७—३२)

"भूमि उसकी पाद—प्रतिष्ठा है। अन्तरिक्ष उसका उदर है। द्यु लोक उसका माथा है। उस परम ब्रह्म को प्रणाम हो।"

८—यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।

(अ० १०—७—३३)

सूर्य और नित्य नया चन्द्रमा उसकी आंखें हैं, आग उसका मुख है। उस परम ब्रह्म को नमस्कार हो।

९—प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्य-
मानो बहुधा विजायते ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान
यदस्यार्धं कतम स केतु ॥

(अ० १०—८—१३)

"प्रजापति (सब के) अन्दर विराजमान है। वह दिखाई नहीं देता (पर) नाना प्रकार से प्रकट हो रहा है। सकल संसार उस

(की शक्ति) के एक भाग का फल है। शेष भाग की क्या कहें ? और कैसे कहें ?"

१०—यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन ॥

(अ० १०—८—१६)

"सूर्य उसी से उदय होता और उसी में लीन हो जाता है। सचमुच वही सबसे बड़ा है। उसके बराबर और कोई नहीं हो सकता।"

ऐसा प्रभु रहता कहां है ? कोई भी तो स्थान ऐसा नहीं, जहां वह न रहता हो। परन्तु उसके दर्शन हृदय ही में होते हैं। उपनिषद् ने उसका पूरा पता भी बता दिया है।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥

(श्वेताश्वतर ३-११)

"वह भगवान् सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है। सर्वव्यापी है और समस्त प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में निवास करता है। इसलिये वह (शिव) कल्याण स्वरूप प्रभु सब जगह पहुँचा हुआ है।"

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा
जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(श्वेताश्वतर ३-१३)

"अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तर्यामी परम पुरुष (परमेश्वर) सदा ही मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित है। मन का स्वामी है तथा निर्मल हृदय और शुद्ध मन से ध्यान में लाया जाता है। (प्रत्यक्ष होता है) जो इस परब्रह्म परमेश्वर को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।"

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा
गुहायां निहितो स्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥

(श्वेता० ३-२०)

"वह सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और बड़े से भी बहुत बड़ा परमात्मा, इस जीव-हृदय रूपी गुफा में छिपा हुआ है। उस सब की रचना करने वाले प्रभु की कृपा से (जो भक्त) इस संकल्प रहित प्रभु को, और उसकी महिमा को, देख लेता है, वह सब प्रकार के दुःखों से रहित हो जाता है।"

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातःपरं वेदितव्यं हि किंचित्।

(श्वेता० १-२०)

"इस को जानो, जो सदा तुम्हारे आत्मा में वर्तमान है। इससे परे कुछ जानने योग्य नहीं है।"

शंकर भगवान् ने 'शिवधर्मोत्तर' से जो श्लोक आत्म-दर्शन के सम्बन्ध में प्रमाण दिये हैं, उनमें से पहले श्लोक में यह लिखा है :—

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।

"योगीजन शिव को अपने आत्मा में देखते हैं, न कि प्रतिमाओं में।"

दर्शन के दो प्रकार

प्रभु-दर्शन के दो प्रकार हैं। एक तो अपनी इन आंखों से उसका विराट् रूप देखना, जितना यह ब्रह्माण्ड है, इस सारे में उसको ओत-प्रोत देखना। उसी की सत्ता से यह सूर्य चमकता है। जैसे मनुष्य शरीर में आत्मा काम करता है, इसी प्रकार सारे जगत् को परमात्मा चलाता है। इन बाह्य नेत्रों से देखते तो सब हैं; परन्तु फिर भी देखते नहीं हैं। देखते होते तो इस जगत् की एक-एक वस्तु में उसी के दर्शन करते।

यदि सूर्य को किसी तरह बोलने की शक्ति मिल जाये, तो उसे कहता सुनेंगे :—

"हे धरती पर विचरने वालो! मुझे जाज्वल्यमान और चमकता हुआ देखकर भ्रम में न उलझ जाना। यह चमक मेरी नहीं है, उसकी है, जो मेरे भीतर-बाहर विराजमान हैं। मेरी चमक का कारण वही है। सूर्य मैं नहीं हूँ, वह है। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। उसकी आज्ञा है, मैं आपके लिये चमकूं, आपको प्रकाश और गर्मी दूं। अंधकार मिटा दूं। मैं तो केवल उसकी आज्ञा का पालन करता हूँ। वह यदि एक क्षण के लिये भी मुझे छोड़ दें, अपनी शक्ति लौटा ले, तो फिर आप मुझे कहीं देख भी न सकें। उषा की लालिमा के साथ, जब मैं अनेकों रंगों के साथ उदय होता हूँ, तो आप निहार-निहार नाचते हैं। खुश होते हैं। गीत गाते हैं। परन्तु वह सौन्दर्य मेरा नहीं, उस प्रभु का है। गीत भी मेरे नहीं, उसी के हैं।"

नदियाँ, जो दिन-रात अबाध-गति से पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भागती फिरती हैं, इन का कल-कल निनाद तो सभी सुनते हैं; परन्तु इस निनाद में निहित इस आवाज को सुनने वालों ने ही सुना है कि :—

"शीतल जल पीना चाहो तो, पियो। स्नान करना चाहो तो, करो। मैले वस्त्र धोकर उज्जवल कर लो। सूखी खेतियां सींच कर हरी-भरी बना लो। पनचक्कियां चलाकर आटा पीस लो। बिजली पैदा करो। कारखाने चलाओ। जो चाहो, सो करो! हम आपकी सेवा में उपस्थित हैं। परन्तु, भूलो मत। यह गति हमारी नहीं है। यह सब कुछ उस प्रभु की देन है, जिसकी आज्ञा से अनवरत बहती हुई हम, न कभी थकती हैं, न हारती हैं। हमारे गीत न गाओ, उस भगवान् का धन्यवाद करो, जो जल के एक-एक बिन्दु में ओत-प्रोत है। उसकी आज्ञा से ही हम बहती हैं। उसकी आज्ञा न हो, तो आज रेत में लोटने लगें।"

किनारे से टकराती, सागर की उतरती चढ़ती लहरों का रौरव सभी ने सुना है; लेकिन समझने वालों ने ही समझा कि असंख्य जलचरों और एक अनोखी सृष्टि को अपने गर्भ में रखने वाला यह अथाह सागर कहता है कि:—

इस सारी धरती को मैं समेटे हुए था। प्रभु की आज्ञा से मैं स्वयम् सिमट गया। अब फिर उसे अपने में समेटने के प्रयत्न में लगा हुआ हूँ। न पहले मेरी कोई सामर्थ्य थी न अब है। उसी के आदेश से, उसी की शक्ति से, उसी की प्रेरणा से, ज्वार और भाटे का खेल खेला करता हूं। मेरे भीतर की गम्भीरता, उसकी गम्भीरता है। मेरी बाह्य चंचलता, उसकी

चञ्चलता है। मेरे भीतर-बाहर जो कुछ भी है, वही है। मैं कुछ भी नहीं। केवल उसकी कृपा का पात्र हूँ कि लाखों करोड़ों रत्नों को अपने पेट में संजो कर रखे हुए हूँ!"

ये गरजते हुये मेघ, चमकती हुई बिजली, भीषण भयंकर आंधियां, वरुण और इन्द्र देवता भी यही कहते हैं :—

"न हम गरज सकते हैं, न चमक सकते हैं। यह गर्ज, यह चमक, यह गति, उसी की दी हुई है। हम तो निष्प्राण हैं। गूंगे। अन्धे। बहरे। उसके संकेत पर हरकत में आते हैं, वह जैसे नचाता है; नाचने लगते हैं। उसी के इशारे पर खामोश भी हो जाते हैं। यह गर्ज उसी की है। यह चमक उसी की है। यह ज्योति उसी की है!"

विशाल विस्तृत — स्तब्धता — और उन बालू के कणों में से उठता हुआ झुलसा देने वाला तेज आपने देखा है? यात्री समझता है, यह मुझे झुलसा रहा है। लेकिन परखने वालों ने परखा और सुनने वालों ने सुना, वह तेज कह रहा था :—

"मैं कौन हूँ, झुलसाने वाला? मैं तो प्रकृति का निष्प्राण अंश हूँ। मेरा तेज है ही कहां? यह तो उस प्रभु का तेज है, जिसे मैं व्यक्त कर रहा हूं। कारण वह है। मैं केवल उपकरण हूं। हे यात्री! मेरी क्या सामर्थ्य कि तुझे सुखी या दुःखी कर सकूं। उसकी आज्ञा पालने के लिये, उसकी बनाई हुई मर्यादा को पूरा करने के लिये, मैं स्वयं इस निर्जन मरुस्थल में पड़ा हूं!"

और यह दिखने वाली दुनिया! कितनी आश्चर्यमय है यह! इस पृथिवी ही का आदि अन्त अभी तक पाया नहीं जा सका। दो अरब वर्षों से मनुष्य टक्करें मार रहा है। ५ करोड़ ५५ लाख

वर्गमील भूमि और १४ करोड़ १५ लाख ५० हजार वर्गमील समुद्र की खोज नहीं हो सकी। और तो और, एक हिमालय पर्वत की थाह यह मनुष्य नहीं पा सका। तब इसके ऊपर के संसार को कौन जाने? जो कुछ अब तक बड़े-बड़े वैज्ञानिकों और ज्योतिषियों ने अनुमान लगाये हैं, वे अधूरे हैं। इन दिखलाई देने वाले नक्षत्रों में से बहुत थोड़ों का नामकरण-संस्कार हो सका है। तनिक इस ऊपर को दुनिया पर एक दृष्टि तो डालें।

सौर-मण्डल (Solar system) उन पृथ्वी मंगल, शनि इत्यादि असंख्य नक्षत्रों का नाम है, जो सूर्य को केन्द्र बना कर घूम रहे हैं—पश्चमी विद्वान् पहले यह समझते थे कि यह 'सोलर सिस्टम' ही सब कुछ है; परन्तु विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ अब शास्त्र को यह बात भी स्वीकार की जाने लगी है कि ऐसे अनेक सौर-मण्डल विद्यमान हैं। प्रोफेसर एडिंगडन (Eddingdon) ने बतलाया है कि:—Our sun belongs to asystem embracing some three thousand millins of stars. और अब तक हम तीन सौ करोड़ तारा-सूर्यों का पता लगा सके हैं।" यह जो इतने अगणित तारा-सूर्य हैं—प्रायः हर एक में एक एक सौर मण्डल का केन्द्र स्थल है। और वे तारा—सूर्य कितने-कितने बड़े हैं—फिर उनके साथ संबन्धित तारागण, नक्षत्र, गृह इत्यादि की गणना कितनी है, यह कौन क्या कह सकता है? उन अज्ञात तारा-सूर्यों तथा नक्षत्रों की तो जाने दो, हमारी पृथिवी से सम्बन्धित सौर-मण्डल ही का अभी पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सका। सर ओलीवर लाज) (Sir Oliver Lodge) लिखते हैं:—

पृथिवी की अपेक्षा हमारा सूर्य दस लाख गुणा बड़ा है और

ऐसे-ऐसे सभी तारा-सूर्य हैं, जो हमारे सूर्य से भी दस लाख गुणे बड़े हैं।"※

अब टुक विचार कीजिये और अनुमान लगाइये कि हमारा यह ब्रह्माण्ड, और वे सारे ब्रह्माण्ड कितने बड़े होंगे? अपने सौर-मण्डल की थोड़ी-सी जानकारी ही आपको चकित कर देगी। सुनिये :—

यदि तीन सौ मील प्रति घण्टे की गति से वायुयान द्वारा पृथिवी से चलें और इस वायुयान को आकाश मार्ग में पैट्रोल इत्यादि मिलता चला जाये, तो किस नक्षत्र तक कितने समय में पहुँचना हो सकेगा, इसका कुछ अनुमान यह है :—

चन्द्र – पृथिवी से २ लाख २१ हजार ६ सौ १० मील पर है। चांद तक तीस दिन में पहुंच सकेंगे।

शुक्र—२ करोड़ ३७ लाख १ हजार मील दूर है वहां नौ वर्ष में पहुँचेंगे।

मंगल—३ करोड़ ३६ लाख १६ हजार मील परे है। वहां १२ वर्ष में पहुंचेंगे।

बुध—४ करोड़ ८० लाख ७० हजार मील है। वहां १८ वर्ष में पहुंचेंगे।

सूर्य—९ करोड़ १४ लाख ६ हजार मील परे है। वहां ३५ वर्ष में पहुंचेंगे। और यह सूर्य इतना बड़ा है कि जिस पृथिवी पर हम रहते हैं, ऐसी ३० लाख ५ हजार पृथिवियां इस एक सूर्य में समा सकती हैं।

※Making of man पृष्ठ १३७

बृहस्पति—३६ करोड़ ५८ लाख १६ हजार मील दूर है। वहाँ १३६ वर्ष में पहूंचेंगे।

वारुणी (यूरेनस)—१ अरब ६० करोड़ ६१ लाख ८३ हजार मील दूर है। वहाँ ६११ वर्ष में पहुँचेंगे।

वरुण (नेपच्यून)—२ अरब ६७ करोड़ ४६ लाख ५७ हजार मील दूर है। वहां १ हजार ७७ वर्ष में पहुंचेंगे।

इनके अतिरिक्त ऐसे नक्षत्र भी हैं, जिनका प्रकाश दो अरब वर्षों से चला हुआ है और अभी तक पृथिवी तक पहुंच नहीं सका। यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि प्रकाश एक क्षण या एक सैकण्ड में १,८६ ३२५ मील चलता है, अर्थात् प्रकाश २४ घण्टों में १६ अरब ६ करोड़ ८४ लाख ८० हजार मील यात्रा करता है। इससे अनुमान कीजिये कि यह ऊपर वाला संसार कितना विशाल, कितना बड़ा और कितना विस्तृत है। यह सारा जगत अपने आप ही नहीं बन गया। इसका कोई निर्माता है। इस अथाह संसार का निर्माता स्वयं कितना शक्तिशाली, कितना महान् और कितना विचित्र होगा? यह सारा संसार, उसी की महिमा है। उसी का प्रकाश जगत में विचित्र रूप से हो रहा है। उसके अनन्तरूप हैं। समस्त रूप उस के ही हैं।

एक तो उसके ये दर्शन हैं, जो पवित्र भावना रखने वाला हर एक आस्तिक कर सकता है। इन दर्शनों में कोई बाधा नहीं।

हर स्थान पर—हर बन पर्वत में—हर मरुस्थलमें—एकान्त अवस्था में—मौन होकर—अपने चारों ओर देखो—। जिस नन्ही-सी कुटिया के बाहर मैं बैठा यह लिख रहा हूँ—उस से चार गज़ की ही दूरी पर गंगा बिना विश्राम लिये बहती चली जा

रही है; इसके पार ऊंचा पर्वत चील के वृक्षों से हरा भरा हो रहा है, पूर्व की ओर भी और पश्चिम की ओर भी पर्वत ही हैं; नन्ही-सी कुटिया के निकट पुष्प खिले हैं—मैंने यह सब कुछ देखा—सहसा मैं पुकार उठा:—गंगा में भी तू—फूलों में भी तू—पर्वत और वृक्षों में भी तू—और जहां कुछ नहीं, वहां भी तू—तू ही तू—तू ही तू। तू ही इस दीखने वाले जगत् में विचित्र रूप से, अनन्त रूप से और समस्त रूप से प्रगट हो रहा है। मेरे में भी तो तू ही व्यापक है—आगे-पीछे, दायें-बायें और ऊपर नीचे तू ही है। बाहर की आँख के साथ जब अन्तर को आंख भी खुल गई, तो फिर कोई स्थान तुझ से रिक्त न पाया—।

प्रभु के ये दर्शन प्रकृति से मिले हुए ब्रह्म के दर्शन हैं। यह प्रकृति की धूलि से लिप्त उसका एक पाद है। उसके शुद्ध रूप के दर्शन और हैं। भक्त उसके शुद्ध रूप ही को देखने का इच्छुक है; परन्तु शुद्ध रूप के दर्शन इन नेत्रों से नहीं हो सकते। इन नेत्रों की बात तो पृथक् रही; शुद्ध रूप तक न मन पहुंच सकता है न चित्त। वहाँ तक केवल आत्मा ही की पहुंच है। अतएव पहले उस आत्मा को जानने की आवश्यकता है, जिसे परमात्मा तक जाने का अधिकार है।
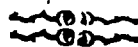
ओ३म् प्र सोम देव वीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा। अंशोः पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥

(साम० पू० प्र० ६। द० ३—म० ४)

[६]

आत्मा की तलाश

—※—

बृहदारण्कोपनिषद् में यह आदेश है :—

आत्मानं चेद् विचानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्। १२।
यस्यानु वित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव। १३।
इहैवसन्तोऽथविद्मस्तद्वयं न चेद् दिवेर्महती विनष्टिः।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवा पियन्ति ॥१४॥

बृह ४—४

"पुरुष यदि अपने आप को जान ले, कि 'मैं यह हूं; तो फिर वह क्या चाहता हुआ, किस कामना के लिये, शरीर के पीछे सन्तप्त हो।१२। खतरे वाला इस घने जंगल (संसार) में प्रविष्ट

हुआ, जिसका आत्मा (अपना आप) ढूंढा गया है, और जाग उठा है, वह कृत्कृत्य है। उसने अपने सारे काम बना लिये हैं। दुनिया उसकी है। वह स्वयं भी एक दुनिया ही है।१३। हम जब तक यहां हैं (जीवित हैं) तभी तक उसको जान सकते हैं (और याद रखो) हदि यहां नहीं जाना, तो बड़ा भारी विनाश है। जो उसको जान लेता है, वह अमृत हो जाता है, और अन्य दुःख में डूबते हैं।१४।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

सर्वा जीवे सर्व संस्थे बृहन्ते,
तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

(१—६)

सब को जीवन देने वाले और सब को आश्रय देने वाले, उस बड़े ब्रह्मचक्र में हंस (जीवात्मा) घुमाया जा रहा है। जब वह (देह से) पृथक् आत्मा को जान लेता है, तब वह उस से प्यार किया हुआ अमृतत्व को प्राप्त होता है।"

जो आत्मा, परमात्मा को देखने का अधिकारी है, वह मनुष्य देह ही में निवास करता है, यह है जोकि—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्रातारसयिता
बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

प्रश्न० ४—९

"यह चैतन्य स्वभाव पुरुष (इस देह में) देखने, छूने, सुनने, सूंघने, रस लेने (चखने) मानने, जानने और करने वाला है।"

पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा यह आत्मा द्रष्टा, श्रोता कौर रसियता है, और 'मन्ता बोद्धा' यह अन्तःकरण द्वारा बनता है और कर्ता पांच कर्मेंद्रियों द्वारा कहलाता है। जानना यह है कि आत्मा यह शरीर नहीं है। शरीर तो नाशवान् है, पर वह आत्मा अमर है। वह नेत्र नहीं, नेत्र उसके लिये केवल एक अस्त्र है। ऐनक है। वह कान नहीं। वह कोई भी इन्दिय नहीं है; अपितु इनसे पृथक एक चैतन्य शक्ति है।

शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, ये पांच विषय हैं। इन पांचों को जानने के लिये आत्मा के पास पांच ज्ञानेन्दिय हैं। शब्द सुनने के लिये कान, छूने के लिये त्वचा, रूप देखने के लिये नेत्र, रस चखने के लिये रसना और गन्ध सूंघने के लिये घ्राण है। बोलना, पकड़ना, घूमना, त्यागना और सन्तानोत्पादन, ये पांच कर्म हैं। इन पांचों से शरीर की स्थिति तथा जगत का क्रम स्थिर है। ये वाणी, हाथ पांव पायु तथा उपस्थ कर्मेन्द्रियां हैं। आत्मा के पास जो ज्ञानेन्द्रियां हैं, इनके द्वार बाहर की ओर खुलते हैं। अतएव ये बाह्य विषयों ही का ग्रहण करती हैं। अन्दर जो व्यापार होता है, जो संकल्पों, वासनाओं और सुख दुःख की दुनियाँ रची जाती है, उसके लिये अन्दर की इन्द्रिय मन है।

परन्तु आत्मा इन ५ कर्मेन्द्रियों ५ ज्ञानेन्द्रियों, और मन से सर्वथा पृथक् है। शरीर के सारे अंगों और इन्द्रियों से पृथक इस शक्ति को कैसे जानें? जो इन्द्रियां जीवात्मा को उस की सहायता के लिये मिली हैं, ये ही जब बेकाबू हो जाती हैं, तो उसके बन्धन और दुःख को बढ़ा देती हैं। इन इन्द्रियों तथा

मन इत्यादि की उच्छृङ्खलता के कारण आत्मा इतना दब जाता है कि मनुष्य इन्द्रियों ही को आत्मा समझने लगता है। आत्मा को पुनः प्रकाशित करने और इन्द्रियों के जाल से निकाल कर आत्मा को अपने स्वरूप में स्थित करने के लिये सब से पहला प्रयत्न यही होना चाहिये कि निपुण रथसवार की भांति इन्द्रियों को भले प्रकार वश में किया जाये। इन्द्रियों की चंचलता यात्री को कितना दुःखी कर देती है, इस का एक दृश्य ऋग्वेद में दिखलाया गया है। अधीर हो कर भक्त कहता है :—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षु-
र्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः
किं स्विद्वक्ष्यामि किमुनु मनिष्ये॥

(ऋ० ६-९-६)

"मेरे दोनों कान इधर उधर भाग रहे हैं। आंखें भी (इधर उधर) जा रही हैं। हृदय में जो यह (आत्मा) ज्योति है, बुझ-सी रही है। अत्यन्त दूर के विषय में लग कर मेरा मन दूर-दूर जा रहा है। मैं क्या कहूँ? और क्या चिंतन करूं?"

कितनी दयनीय दशा चञ्चल इन्द्रियों ने मनुष्य की कर दी है? कितनी विवशता और कितनी कायरता मन्त्र में प्रकट की गई है? सचमुच इन उपद्रवियों ने हृदय-प्रदेश में विद्रोह कर दिया है। इसलिये सब से पूर्व इस चञ्चलता को दूर करना होगा, और इस से पूर्व जो यम-नियम का वर्णन हो चुका है, वे दसों व्रत यम और नियम इस ध्येय की प्राप्ति में बड़े सहायक हैं। जबतक इन्द्रियों की चञ्चलता दूर हो कर मन एकाग्र

और स्थिर नहीं होता, तबतक आत्मा के दर्शन नहीं हो सकते।

यम-नियम को जीवन में धारण करने के पश्चात् फिर, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिये। आसन का प्रयोजन यह है कि सिद्ध-आसन, स्वस्तिक-आसन, सुख-आसन, पद्म-आसन या जो भी आसन रुचिकर हो, और जिस से कष्ट न हो, उसमें देर तक बिना हिले जुले बैठना। इन्द्रियों की चंचलता दूर करने के लिये एक आसन में लगभग साढ़े तीन घण्टे बैठने का प्रयत्न तो होना ही चाहिये। आसन को निश्चल बनाने के लिये अनन्त आकाश और निश्चल भगवान् का ध्यान करना चाहिये। यह भावना रखनी चाहिये कि जैसे भगवान् निश्चल हैं, वैसे ही मैं भी निश्चल रहूँ। आसन के दृढ़ होने पर फिर श्वास-प्रश्वास को प्राणायाम द्वारा रोकना चाहिये। प्राणायाम और आसन का वर्णन मैं 'प्रभु-भक्ति' पुस्तक में कर चुका हूँ। इस लिये यहां उसे दोहराने को आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि रेचक, पूरक, कुम्भक, और स्तम्भवृत्ति ये चार प्रकार के प्राणायाम, किसी अनुभवी गुरु से सीख कर, इनका प्रयोग करना चाहिये।

आसन और प्राणायाम के पश्चात् (प्रत्याहार) की बारी आती है। यह (इन्द्रियों की चंचलता के नाश करने का सीधा और मुख्य साधन है।) प्रत्याहार शब्द जिस धातु (हृ) से बना है, उसका अर्थ है, 'पीछे हटना, समेटना।' (जो-जो इन्द्रिय जिस-जिस विषय का प्रयोग करने वाली है, उसको, उस विषय से हटा देना, रोक लेना, उसे प्रयोग में न लाने देना-प्रत्याहार है। इन्द्रियों को अपने विषयों से पीछे हटाकर चित्त के स्वरूप में स्थित कर देना, प्रत्याहार कहलाता है।) जब निरन्तर इन्द्रियों को उनके विषयों से रोका जायेगा और आप अपने इस अभ्यास में सफल हो जायेंगे, तो

फिर इन्द्रियां पूर्णतया आपके वश में हो जायेंगी । मन सहित इन्द्रियों के वश में हो जाने पर, अन्दर जो उथल-पुथल मची हुई थी, वह बन्द हो जायेगी। अब आत्मा को देखने की धारणा कीजिये और उस ज्योति-पुँज आत्मा का ध्यान कीजिये। निस्सन्देह उस ज्योति के दर्शन आप पालेंगे और आप कृत-कृत्य हो कर पुकार उठेंगे—"पा लिया !" जैसे तालाव के जल में जबतक पत्थर, कंकर, ढेले फैंके जाते रहेंगे, तबतक जल में तरंगें उठती रहेंगी, और आप न सूर्य, न चन्द्र, न अपना मुख उस में देख सकेंगे। परन्तु जैसे ही पत्थर कंकर आदि तालाव में फैंकने वन्द करदें, थोड़ी देर प्रतीक्षा करें, जल को स्थिर होने दें, फिर देखें, उसमें सूर्य भी, चन्द्र भी और अपना मुख भी। इसी प्रकार जबतक इन्द्रियां वाहर के पत्थर कंकर अन्दर फैंकती रहेंगी, तबतक चित्त में उथल-पुथल मची रहेगी। ज्योंही इन्द्रियों ने अपना यह काम छोड़ा, अन्दर की जोत जग उठेगी। मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि और सारी इन्द्रियों से निखरा हुआ, एक ज्योति-स्वरूप आत्मा दिखाई देगा।

प्रत्याहार के अर्थ कहीं यह न ले लें कि इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकने के लिये, इन्द्रियों का नाश ही कर दिया जाये। जैसे कि भक्त सूरदास ने किया था। एक सुन्दर युवती देवी को देख कर सूरदास पानी पीते-पीते आसक्त हो गया और उसी देवी के पीछे-पीछे उसके घर जा पहुँचा। देवी ने पूछा, क्या प्यास नहीं बुझी ? सूरदास कहने लगा कि प्यास तो अधिक भड़क उठी है। तब देवी ने और जल पिला दिया। परन्तु सूरदास फिर भी उसी द्वार पर खड़ा था। देवी ने फिर पूछा, "अब मैं आप की और क्या सेवा करूं ?" तब सूरदास के मन में यह अद्भुत देवासुर-संग्राम हो रहा था। जब देवी ने 'और सेवा' पूछी, तो

सूरदास ने कहा, "देवी, लोहे की दो सलाखें चाहियें।" देवी अन्दर गई और लोहे की दो सीखें लाकर उसके हाथ में दे दीं। सूरदास ने वहीं खड़े-खड़े दोनों आंखों की पुतलियां उन सीखों से फ़ोड़ डालीं और कहने लगा—"इन्हीं दो ने मेरे हृदय में आग लगा रखी थी। इन्हीं को समाप्त किये देता हूँ!"

सूरदास का यह कृत्य बड़ी वीरता का है; परन्तु सूरदास ने न्याय नहीं किया। दोष आंखों का नहीं, मन का था। शिक्षा मन को मिलनी चाहिये थी, न की आंखों को? प्रत्याहार का अर्थ यह नहीं कि आंख, कान, नाक इत्यादि के मार्ग ही बन्द करदो। अर्थ यह है कि मन को इस प्रकार का बना लो कि वह इन इन्द्रियों के द्वारा तुम्हारी अन्तरात्मा में आग न भड़का सके।

ये नेत्र तो माता को भी देखते हैं, पुत्री को भी, बहिन को भी और धर्म-पत्नी को भी। भेद तो केवल मन की भावना में पड़ता है। तब नेत्र को फोड़ देने का क्या लाभ? आवश्यकता तो मन की भावना को पवित्र बनाने की है। कठोपनिषद् में कहा है:—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥११॥(कठ. २-३)

"जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ खड़ी हो जाती हैं, और बुद्धि भी नहीं डोलती है, उसको कहते हैं, सबसे ऊंची अवस्था ॥१०॥ वह जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है, इसी को योग मानते हैं। उस समय वह (योगी) प्रमाद से रहित होताहै ॥११॥"

यह ऊंची अवस्था प्राप्त करने के लिये मन को अपना साथी

बनाकर आगे बढ़ना होगा, और आत्म-दर्शन पाने होंगे। अष्टांग योग की साधना के जो संकेत पूर्व किये जा चुके हैं, उनकी आधार-शिला शरीर का और इन्द्रियों का आहार है। जिस प्रकार के आहार का आप सेवन करेंगे, उसी प्रकार की सफलता या असफलता भी होगी। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है:—

आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृति लम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः (७-२३-२)

आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर स्मृति दृढ़ हो जाती है, और स्मृति प्राप्त होने पर हृदय की समस्त गांठें खुल जाती हैं।"

आहार का अर्थ केवल अन्न नहीं; अपितु आहार का यह भाव है कि शरीर तथा सारी इन्द्रियों और मन इत्यादि के जितने प्रकार के आहार हैं, वे सब के सब शुद्ध हों। यह ठीक है कि नेक कमाई का अन्न मन को निर्मल बनाता है; परन्तु यदि आंख का, नाक का, कान का, और दूसरी इन्द्रियों का आहार शुद्ध नहीं होगा, तो भारी विघ्न पड़ जायेगा। इसलिये सर्वप्रकार के आहार पवित्र होने चाहियें। तब अन्तः—करण भी पवित्र होने लगेगा। इस दर्पण पर जो मैल जन्म-जन्मान्तर से जम चुकी है, वह उतरने लगेगी और पूरे अभ्यास से यह शीशा चमक उठेगा। ऐसा होने पर भूत और भविष्यत् का सत्य ज्ञान होने लगेगा। तब हृदय की ग्रन्थियां खुल जायेंगी। ये ग्रन्थियां खुलते ही आत्मदर्शन होने लगेंगे। तब मूलाधर से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक एक बृहद्ज्योति प्रकट हो जायेगी, जो हृदय देश में हर एक तत्व के दर्शन करा देगी। इस ज्योति के दर्शनों से एक अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा।

—❀—

॥ ओ३म् ॥

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठ प्रतरता सखायः। अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥

(ऋ० १०—५३—८)

[७]

महा कठिन मार्ग

—※—

"बहुत ही कठिन मार्ग है यह तो। इस पर चलना दुष्कर है। कितनी मंजिलें आपने बतला दीं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि और इन की आधारशिला आहार का पवित्र होना। नहीं महाराज, इस कठिन मार्ग पर नहीं चला जायेगा।" ऐसी कुछ आवाज़-सी आ रही है। यह सत्य है कि मार्ग कुछ कठिन है; परन्तु, परिणाम भी तो बहुत प्यारा है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य पूर्ण करने वाला है। कभी रेलवे स्टेशन पर देखा है—भूसे की तरह स्त्री, पुरुषों,

बच्चों से भरी हुई रेलगाड़ी। उसके खड़े होते ही यात्री उस पर चढ़ने के लिये दौड़े। वहाँ तो पहले ही स्थान नहीं। ये सहस्रों यात्री इस में कैसे स्थान पा सकेंगे? परन्तु धक्कम-पेल हो रही है। किसी की पगड़ी गिर पड़ी किसी की टोपी उतर गई। कोई घायल हो गया। किसी का पसीना बहने लगा। यह अवस्था देख कर मैंने कहा,—"अरे क्यों मरे जा रहे हो? मूर्खो! वह देखो परे यार्ड में कितनी ही गाड़ियां खाली खड़ी हैं। उन में सवार क्यों नहीं हो जाते?" यात्रियों ने कहा—"वे गाड़ियाँ तो यहीं खड़ी रहेंगी; यह गाड़ी तो हमें हमारे ठिकानों पर पहुँचा देगी।"

तो इसी लिये यह सब कष्ट-सहन हो रहे हैं; ताकि अपने लक्ष्य पर पहुँच जायें। जब छोटी-सी यात्रा के लिये इतने कष्ट सहन किये जाते हैं, तो जीवन-यात्रा के लिये कठिन मार्ग देखकर आप यहीं बैठे रहेंगे? रेल गाड़ियाँ तो आती ही रहती हैं। यह मनुष्य-जन्म की गाड़ी पता नहीं फिर आयेगी भी या नहीं। यदि मनुष्य-जीवन की यह गाड़ी ऐसे ही चल दी और हम इस पर सवार न हो सके, तो फिर कौन कहे, कब तक, कितने वर्ष, कितनी शताब्दियां, कितने युग प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। स्वामी मंगलनाथ जी एक बात सुनाया करते थे कि जिस प्रकार कुँएं से जल लाने के लिये डोरी लोटा उस कूएं में डालते हैं। सारी डोरी कुँए में डाल दी जाती है और थोड़ी सी, कोई हाथ भर डोरी पानी निकालने वाले के हाथ में रह जाती है। यदि वह एक हाथ डोरी हाथ से छूट जाये, तो पानी मिलना तो एक ओर रहा, डोरी लोटे से भी हाथ धोने पड़ते हैं। परन्तु यदि डोरी पकड़ी रखे, तो जल भी मिल जाता है और डोरी-लोटा भी। इसी प्रकार इस मनुष्य ने अनेक जन्म व्यर्थ संसार कूप में खो दिये हैं। केवल यह मनुष्य देह इस के वश में है। यदि यह देह भी बिना मोक्ष-

जल प्राप्त किये-हाथ से निकल गया, तो फिर प्यासा ही रहना पड़ेगा। क्या केवल इस लिये कि आत्म-दर्शन का मार्ग कठिन है, यात्री उस पर नहीं चलेगा? यदि हर कठिन मार्ग या साधन को त्यागना ही है, तो फिर यह धन कमाना, ये सारे वैभव एकत्र करना, ये अनेक प्रपंचों की दुनियायें रचना और दूसरी बातें करना, कौन-सा सुगम है? एक धन को ही देख लीजिये। इस के सम्बन्ध में भागवत के ये श्लोक बहुत शिक्षाप्रद हैं:—

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥१७॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः॥
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणना सद्यः सर्वेऽरयः कृतः ॥२०॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधा घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥२०॥
(११—२३)

"मनुष्यों को धन के कमाने में, कमा कर उसकी रक्षा करने, बढ़ाने, तथा व्यय करने में, तथा उसके नाश और उपभोग में, सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रम का ही सामना करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, घमंड, मतभेद-बुद्धि वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, जुआ और शराब, ये पंद्रह,

अनर्थ अर्थ (धन) के कारण ही होते हैं, ऐसा माना गया है। इसलिये कल्याण चाहने वाले पुरुष को उचित है कि वह स्वार्थ तथा परमार्थ के विरोधी इस अर्थनामधारी अनर्थ को दूर से त्याग दे। भाई-बन्धु, पुत्र, स्त्री, माता-पिता और सगे-सम्बन्धी, जो स्नेह के कारण सदा एकमेक बने रहते हैं, कौड़ी के कारण इतने पराये हो जाते हैं कि एक दूसरे के वैरी बन जाते हैं। थोड़े से धन के लिये ही इन सब का क्षोभ और क्रोध भड़क उठता है। बात की बात में सारा स्नेह-सम्बन्ध भूल कर ये लड़ने झगड़ने लगते हैं और एक दूसरे का प्राण लेने वाले बन जाते हैं।"

पहले तो धन प्राप्त करने ही में कितने कष्ट सहन करने पड़ते हैं और ईमानदारी से पसीना बहा कर, या झूठ, धोखा और दूसरे अपराध करके यदि अर्थ मिल भी गया, तो देख लीजिये, इसके क्या परिणाम होते हैं। आप कहेंगे कि क्या फिर धन नहीं कमाना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि धन कमाने से न वेद रोकता है, न शास्त्र; परन्तु कष्ट तो इसमें भी सहन करना ही पड़ेगा। मानव-जीवन में धन एक आवश्यक वस्तु है। इसके बिना कोई भी कार्य चलता नहीं है। परन्तु इस धन से जहाँ अच्छे कार्य होते हैं, वहाँ सद्भावना न होने से यह अर्थ अनर्थकारी भी है। फिर भी जनता इस के लिये मारी-मारी फिरती है। धन उपार्जन के लिये कौन-सा दुःख है, जो सहन नहीं किया जाता? और फल क्या मिलता है? एक कवि ने धन के सम्बन्ध में यथार्थ बात कही है:—

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय॥

"कनक (धतूरे) से कनक (स्वर्ण-धन) में सौ गुनी अधिक मादकता (नशा) है। धतूरे को मनुष्य खाता है, तब पागल होता है; परन्तु धन के तो पाते ही पागल हो जाता है।"

कहते हैं कि पहले यह कहावत प्रसिद्ध थी कि जिसकी कमर में एक हज़ार रुपया बँधा हो, उसे एक बोतल शराब का नशा चढ़ा होता है।

जिस मार्ग का यहाँ निर्देश किया गया है, और जिसे कठिन बतलाया जा रहा है, उस पर चलते हुए जिस मंज़िल पर पहुँचते हैं, वहाँ तो आनन्द ही आनन्द है। वहाँ न शोक है न मोह। न झूठ है न दम्भ। न अकड़ है, न अभिमान। वहाँ तो मोद प्रमोद तथा खुशियों ही का सदा नृत्य होता है। वहाँ पहुंच कर पछतावा नहीं, सन्तोष होता है। अशाँति नहीं, शान्ति प्राप्त होती है।

मनुष्य-जीवन में दो ही विशेषतायें हैं, एक तो अपने विचारों को प्रकट करने की शक्ति और दूसरे आत्म-दर्शन करने का अधिकार। पहली विशेषता तो संसारी लोगों ने झूठ बोल कर तथा वाणी का दुरुपयोग करके खो दी, और दूसरी विशेषता को "मार्ग कठिन है" कह कर भुला दिया। तब यह मनुष्य-जीवन हुआ या पशु-जीवन? ईंटों के भट्टे के गधे की तरह कच्ची ईंटें लाते जाओ और पक्की नगर में पहुँचाते चले जाओ। न कच्ची ईंटें समाप्त होंगी न पक्की। बस ढोते ही रहो। दिन के पश्चात् रात। रात के पश्चात् दिन। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म। इसी हेरा-फेरी में पड़े रहोगे क्या? क्या आपको ऐसी अवस्था पसंद है? कितना दयनीय और विवशता का चित्र एक पंजाबी कवि ने ऐसे संसारी का खैंचा है :—

आवे देंया खोतया, ते आवे हेठ खलोतया।
कच्चियां ले आवेंगा, ते पक्कियां ले जावेंगा।
आवे नहीं ओ मुकणा, ते तू नहीं ओ छुटणा॥

"ईंटों के भट्टे के नीचे खड़े हुए गधे! तू कच्ची ईंटें लाता जायेगा और पक्की ले जाता रहेगा। इस प्रकार भट्टा समाप्त नहीं होगा, और तेरा छुटकारा भी नहीं होगा।"

सांख्य-दर्शन के चौथे अध्याय का यह सूत्र सांसरिक भोगों में लिप्त मनुष्य की आंखें खोलने वाला है:—

न भोगद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

"भोग के भोगने से राग की शान्ति नहीं होती, मुनि की तरह।"

सौभ्री एक मुनि (ऋषि) थे। उनकी प्रकृत्ति संसारी भोग भोगने में लग गई। जीवन भर अपने मनोरथ पूरे करने में लगे रहे। परन्तु राग की आग भोगों की समिधायें डालने से शान्त नहीं हुई और भड़कती ही रही। अन्त में सौभ्री ऋषि की मृत्यु का समय आ गया। तब उस ने अपने सारे सम्बन्धियों और मित्रों को बुलाया और उनसे कहने लगा:—

आमृत्युतो मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्ति परस्य चित्तं न जायते वै परमार्थ सङ्गि ॥

"सुनो, मनोरथों का अन्त मृत्यु पर्य्यन्त नहीं होता, यह मुझे आज मृत्यु के समय ज्ञात हुआ है। मनोरथों में जो आसक्ति है, उस आसक्ति से जो चित्त है, वह आत्म-ज्ञान के प्राप्त करने का साधन नहीं बनता।"

यह सौभ्री मुनि का जीवन भर का अनुभव है। क्या इस से हम शिक्षा नहीं ले सकते ?

विषयों की पिपासा को आज तक कोई शान्त नहीं कर सका। इन्हें एकत्र करने ही में जीवन व्यतीय हो जाता है और फिर नये जीवन में मजदूरी प्रारम्भ हो जाती है। कितने जीवन बीत गये,

तालाब खोदते-खोदते। क्या प्यास बुझाने वाले जल की एक भी बूंद प्राप्त हो सकी है ?

'तुलसी दास कब तृषा जाये,
सर खनत हि जन्म सिरान्यो।

विषयों के जिस तालाब को खोदा जा रहा है, यहां से तृपा मिटाने वाला जल मिलने का नहीं।

अनित्य वस्तुओं को नित्य समझ कर, उन्हीं के पीछे हीरे जैसा जन्म कौड़ी बदले खोनेवाले लोग भारी भ्रम में उलझ रहे हैं। वे भूल जाते हैं कि रावण ने सोने की लंका बनाई थी। कंस सबका प्रभु बन बैठा था। हिटलर ने सारी दुनिया को चुनौती दी थी। वे सब कहां हैं ? उन से बढ़ कर क्या धन, सम्पत्ति, राज्य और वैभव जमा कर लोगे ? यदि कर लोगे, तो फिर भी परिणाम वही होगा, जो इनका हुआ। जो लोग इतने ऊंचे उड़ नहीं सकते, वे एक साधारण गृहस्थी की तरह जीवन व्यतीत करते हुए सम्बन्धियों ही के मोह में पड़े रहते हैं। यदि आत्म-चिन्तन ही न किया, तो यह सम्बन्धी क्या वहां काम आयेंगे, जहां कोई भी सहायक पहुँच नहीं सकता ? मनु भगवान् ने कहा है:—

नामुत्रहि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्र दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
(मनुस्मृति—४-२३६)

"वहां (परलोक) में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री न सम्बन्धी सहायता कर सकते हैं; किन्तु एक धर्म ही वहां सहायता में खड़ा होता है।"

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वति ने सत्यार्थप्रकाश में मनु भगवान् के आदेशों का स्मरण कराते हुए लिखा है:—

"जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उस को मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़ कर पीठ दे, बन्धु वर्ग विमुख होकर चले जाते है, कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता; किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है।"

अब जो लोग दुनियादारी ही में पड़े रह कर, मनुष्य-जीवन व्यतीत कर देते हैं, उनको अपने मन में विचार करना होगा कि संसार में आये थे किस लिये और कर क्या रहे हैं? फिर यह भी देखना चाहिये कि अनित्य वस्तुओं, अनित्य सम्बन्धियों के पीछे मोह-ममता में फंस कर अपने चित्त और मन को दुःखी किये रखना और उन्हीं में आसक्त होकर अपने नित्य प्रियतम को भुलाये रखना, कहां की बुद्धिमत्ता है?

महाभारत के शांतिपर्व में वर्णन आता है कि भयंकर युद्ध में पूर्ण सफलता प्राप्त कर लेने के पश्चात् युधिष्ठर जी प्रसन्न नहीं हुए। मरे हुए सम्बन्धियों के वियोग में दुःखी होने लगे। भाईयों ने बहुत समझाया और विद्वानों ने भी; परन्तु मोह की जंजीर बुरी तरह जकड़ती है। युधिष्ठर पूर्ववत् अधीर ही रहे। तब संसारी सम्बन्धियों की वास्तविक कथा उन्हें सुनाई गई। इस कथा के ये श्लोक बड़े मार्मिक हैं—:

यथा काष्टं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूत समागमः ॥३६॥
ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीति वाद्यै रूपस्थिताः।
ये चनाथाः परान्नादः कालस्तेषु समक्रियाः ॥३७॥
माता पितृ सहस्राणि पुत्र दार शतानि च।
संसारेष्वनुभूतानी कस्य ते कस्य वा वयम् ॥३८॥

नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथिसंगतमवेदं दारवन्धु स सुहृज्जनैः ॥३६॥

"जैसे महासागर में काष्ठ के दो टुकड़े दो ओर से आकर एक स्थान में मिल जाते हैं और समय के अनुसार फिर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही प्राणियों का भी समय के अनुसार संयोग-वियोग होता रहता है। जो पुरुष उत्तम स्त्रियों के बीच में रह के गीत वाद्य आदि के सुखों को भोगते रहते हैं, और जो पराये अन्न के आसरे जीवन धारण करने वाले अनाथ पुरुष हैं, काल दोनों के संग समान व्यवहार करता रहता है, अर्थात् वे कोई भी मृत्यु के दुःख से छुटकारा नहीं पा सकते। इस संसार में माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदिक सैकड़ों तथा सहस्रों भांति के संबन्ध दीख पड़ते हैं; परन्तु विचार पूर्वक देखने से ये लोग किसके माता पिता हैं और हम लोग ही किसके आत्मीय बान्धव हैं ? यह स्पष्ट हो जाता है। कोई भी इस आत्मा का आत्मीय नहीं है और न यह आत्मा किसी का आत्मीय-बन्धु हो सकता है। जैसे पथिक मार्ग में गमन करते हुए, थोड़े समय के वास्ते एक स्थान पर इकट्ठे विश्राम करके फिर यथायोग्य स्थान पर गमन करते हैं, इस संसार में स्त्री, पुत्र और स्वजनों की संगति भी उसी भाँति समझनी चाहिये।"

जब याज्ञवल्क्य सन्यास आश्रम में जाने लगे, तो उस समय जो भीतरीय जोत जगाने वाली बातचीत मैत्रेयी से हुई है, उससे तो सांसारिक रिश्ते और आत्मा का सम्बन्ध पूरा-पूरा स्पष्ट हो जाता है। उपनिषद् में वह कथा इस प्रकार है: –

"याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। उन में से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी गृहाश्रम के कार्यों में

कुशल। अब याज्ञवल्क्य जब जीवन की दूसरी अवस्था को आरम्भ करने के लिये तैयार हुआ, सन्यास लेने लगा, तो उसने कहा—'प्रिये मैत्रेयी! मैं इस आश्रम से अब संन्यास में जा रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि अपनी सम्पत्ति तुम दोनों को बाँट दूं'।

"मैत्रेयी ने कहा—'हे भगवन्! यदि यह सारी पृथिवी धन से भरी हुई मेरे पास हो, तो क्या मैं इससे अमर हो जाऊँगी या नहीं?"

"याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—'नहीं प्रिये! जैसे अमीर लोगों का जीवन होता है, वैसे ही तेरा जीवन होगा; परन्तु धन से अमृतत्व (अमर होने) की कोई आशा नहीं है।"

"मैत्रेयी ने तब फिर कहा—'जब इस धन से मैं अमर नहीं हो सकूंगी तो इसे लेकर मैं क्या करूंगी? केवल वह वस्तु जो आप जानते हैं, वही मुझे बतलाइये।'

"याज्ञवल्क्य ने कहा—"तुम तो हमारी पहले ही प्यारी हो। अब यह बात पूछने से तो तुम ने प्रीति को और भी बढ़ा दिया है। अहो आदरणीय! मैं तेरे लिये इस रहस्य को खोलूंगा। ध्यान से सुनो।"

"मैत्रेयी—'जी आपकी अनुकम्पा।'

तब याज्ञवल्क्य ने कहा:—

"हे मैत्रेयी! पति-पति की कामना के लिये प्यारा नहीं होता है, किन्तु पति आत्मा के लिये प्यारा होता है। इसी प्रकार हे मैत्रेयी! पत्नी पत्नी की कामना के लिये प्यारी नहीं होती, किन्तु पत्नी आत्मा की कामना के लिये प्यारी होती है। ऐसे ही पुत्र पुत्रों की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु पुत्र आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयी! धन, धन की कामना के लिये प्यारे नहीं होते, अपितु धन आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते

हैं। ऐसे ही पशु, ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, पृथिवी आदि लोक, अग्नि आदि देवता भी इनकी कामना के लिये प्यारे नहीं होते, किन्तु ये सब आत्मा की कामना के लिये प्यारे होते हैं। हे मैत्रेयी! कोई वस्तु हो, वह सब उसके लिये प्यारी नहीं होती, किंतु हर एक वस्तु आत्मा के लिये प्यारी होती है।"

निस्सन्देह आत्मा सब को साक्षात् प्यारा है, और संसार में जो कुछ हमें प्यारा लगता है, वह केवल इसलिये कि वह हमारे आत्मा के अनुकूल है। सर्दियों में धूप तथा आग कितने भले प्रतीत होते हैं। गर्मियों में ये ही दोनों काटने को दौड़ती हैं। क्यों? केवल इस लिये कि सर्दियों में धूप और अग्नि आत्मा के अनुकूल होती हैं। हम इनके सेवन के लिये स्वयं इनके निकट जाते हैं। परन्तु गर्मियों में ये आत्मा के प्रतिकूल हो जाते हैं। और हम इनसे दूर भागते हैं। यही बात शेष सब पदार्थों के लिये है। पति हो या पत्नी, पुत्र हो या पिता, लोक सेवा हो या परिवार सेवा, राजनीति हो या धर्म-सभा, जो कोई हो या जो कुछ हो, सब इसी लिये प्यारा है कि वह आत्मा की प्रीति का कारण है। हां, आत्मा सर्वथा सर्वदा प्यारा है।

परन्तु संसार में यह क्या हो रहा है? जिस आत्मा के लिये सारी वस्तुएं प्यारी हैं, उसी आत्मा को मनुष्य भूल बैठा है। बरात तो जा रही है और दूल्हे का पता ही नहीं। इस से बड़ा आश्चर्य कभी देखा है? इसी आत्मा की खोज और दर्शन के लिये जब शास्त्र मार्ग बतलाता है, तो उसे महा-कठिन कह दिया जाता है। क्षणभंगुर और अनित्य वस्तुओं के पीछे तो दुनिया वाले पागल-से हो रहे हैं। थोड़े-से काल के लिये जिनका नाम है, उनके लिये तो पत्थर तुड़वा लो, पहाड़ कटवा लो, समुद्र में गोते लगवा लो, दिन भर धूप में खड़ा करवा लो, मूसलाधार वर्षा

में मीलों चलवा लो, रात-रात-भर जगवा लो, झूठ बुलवा लो, सब प्रकार के अत्याचार, भ्रष्टाचार करवा लो। दुनियाँ वाले यह सब कुछ करते हैं और करते रहेंगे। परन्तु जो आत्मा सदा से है और सदा रहेगा, जो ऐसा साथी है, जो कभी धोखा नहीं देता, उसकी ओर झुकने के लिये दुनिया वालों के पास समय नहीं, उत्साह नहीं, शक्ति नहीं, इच्छा नहीं !

कठोपनिषद् में नचिकेता के अन्तिम प्रश्न का उत्तर देकर यम ने संसारी लोगों के कल्याण के लिये घोषणा की कि:—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥
(२—१३—४)

"यदि शरीर का पतन होने से पहले-पहले इस मनुष्य शरीर में ही (भक्त) परमात्मा का साक्षात् कर सका (तब तो ठीक है) नहीं तो फिर वह अनेक कल्पों तक, नाना लोकों और योनियों में शरीर धारण करने को विवश होता है।"

याज्ञवल्क्य ने मैत्रैयी से भी यही कहा कि:—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥

"सचमुच हे मैत्रेयी ! आत्मा ही है, जो दर्शन करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने (ध्यान देने) के योग्य है।"

ससार में यदि कोई दर्शन के योग्य वस्तु है, तो वह केवल आत्मा है। यह निश्चित बात कह कर साथ ही यह भी बतला दिया है कि आत्मा के दर्शन के उपाय क्या हैं ? याज्ञावाल्क्य ने

तीन उपाय बताये हैं, १. श्रवण २. मनन और ३. निदिध्यासन।

श्रवण

ब्रह्मविद्या को क्रियात्मक रूप से जानने वाले किसी विद्वान् गुरु से, या किसी मोक्ष-शास्त्र से उपदेश लेना 'श्रवण' कहलाता है। सच्चे गुरु के विना और सत्य-शास्त्र के विना सन्मार्ग का मिलना कठिन है। कठोपनिषद् में कहा है :—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

"उठो, जागो! चुने हुए आचार्यों के पास जाओ और समझो!"

यही कारण है कि आर्य-हिन्दुओं में यह कहा जाता है कि 'गुरु विन गति नहीं।' इसीलिये गुरु धारण करने की प्रथा अब तक चली आती है; परन्तु जिस प्रकार संसार के दूसरे क्षेत्रों में त्रुटियाँ आगई हैं, इस क्षेत्र में भी ढोंग अधिक हो गया है। अतएव बड़ी सावधानी से गुरु को चुनना चाहिये। सच्चे अनुभवी और पहुँचे हुए गुरुओं का अभाव नहीं है। ऐसे महानुभावों के पास पहुँच कर सबसे पहिला प्रभाव यह होता है कि हृदय को शान्ति-सी मिलने लगती है। ऐसे ही गुरु आत्मा के दर्शन का मार्ग बतला सकते हैं। जिसने यह मार्ग स्वयं नहीं देखा, वह दूसरों को कैसे मार्ग दिखला सकता है।

पानी मिले न आपको, औरों बखशत खीर।
आपन मन निश्चल नहीं, और बँधावत धीर॥

जो स्वयं दर्शन पा चुके हैं, जिन्होंने अपना जीवन सफल बना लिया है, जो काम क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करके आत्मा के निकटवासी बन चुके हैं, उनकी तलाश तो कबीर भी करते रहे। ऐसे ही साधुओं और गुरुओं के सम्बन्ध में कबीर कहते हैं:—

सुख देवें दुःख को हरें, दूर करें अपराध।
कहें कबीर ये कब मिलें, परम स्नेही साध॥

मनन

सत्य गुरु को पाकर, उनसे आत्म-दर्शन का मार्ग जानकर, अब साधक को स्वयं प्रयत्न और पुरुषार्थ करना होता है। जो उपदेश लिया है, उस पर दत्तचित्त होकर मनन करना, उसे युक्तियों से परखना, और अनुभव से जानना, मनन कहलाता है।

निदिध्यासन

निरन्तर उस पर ध्यान जमाना, उसी का चलते फिरते, उठते बैठते, जागते अपितु सोते भी ध्यान रखना, इसे निदिध्यासन कहते हैं। जब निरन्तर एक ही ध्येय पर ध्यान लगाया जायेगा, तो उसका साक्षात्कार हो जायेगा। बस इससे परे और क्या है?

कठोपनिपद् का ऋषि कहता है:—

"इन्द्रियों के परे (सूक्ष्म) अर्थ (सूक्ष्म-तन्मात्र शब्द, तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र व गन्ध तन्मात्र) है।

अर्थों से परे मन है।

मन से परे बुद्धि है।

बुद्धि से परे महान् आत्मा (महत्व) है।

महत् से परे अव्यक्त (प्रकृति) है।

प्रकृति से परे पुरुष (परमात्मा) है।

पुरुष से परे कुछ नहीं है।

बस, यह सीमा (काष्ठा) है। इसीलिये कहा जाता है कि आत्मा को जान लेने पर फिर कुछ जानने-योग्य नहीं रहता।

दोनों का विवेक

आत्मा के जानने तक ही अधिक परिश्रम है। प्रकृति या माया

के साथ मिला हुआ आत्मा, माया से पृथक जान लेना ही कठिन है। परन्तु जब यह जान लिया कि मैं शरीर नहीं, मैं इन्द्रियों में से भी नहीं, मैं मन, बुद्धि और चित्त भी नहीं; अपितु इनसे निखरी हुई, शुद्ध चैतन्य सत्ता हूँ, जो सदा से है और सदा रहेगी, मेरे घर बदल सकते हैं और बदलते हैं; परन्तु मुझमें परिवर्तन नहीं आता। शरीर शिशु होता है। बाल्यकाल में से गुजरता है। युवावस्था में आता है। फिर मुख पर झुर्रियां पड़ने लगती हैं। दस वर्ष के पश्चात् देखने वाला पहचानता ही नहीं। दांत निकल गये। बाल श्वेत हो गये। खाल ढीली पड़ गई। आंखें अन्दर धंस गयी। टांगें लड़खड़ाने लगीं। चेहरे की लालिमा अस्त होते सूर्य की भाँति न जाने कहाँ चली गई? लोग कहने लगे, यह बूढ़ा हो गया है। तब एक दिन यह देह निष्प्राण हो गई; सम्बन्धियों ने उठाया और उसे भस्म कर आये। आँधी उठी और उसने भस्म को भी उड़ा दिया। लोग कहने लगे, अब वह समाप्त हो गया। परन्तु सुनो, मैं मरा नहीं। नाशवान शरीर ही मरा है। मैं तो उसी प्रकार से विद्यमान हूँ। मैंने एक शरीर छोड़ कर दूसरा शरीर धारण कर लिया है। मुझे फिर नेत्र, श्रोत्र नाक इत्यादि सारे इन्द्रिय मिल गये हैं। पूर्ववत् बाल, युवा, वृद्ध होने वाले शरीर के अन्दर विराजमान हूँ। देह जड़ था, और जड़ है, फिर मैं इसमें एक चेतन सत्ता हूँ। जब तक मैं देह में हूँ, तभी तक देह भी चेतन प्रतीत होता है। ज्योंही मैंने इसे छोड़ा, यह काष्ठवत् और लोष्ठवत् पड़ा है। वायु अब भी अप्रत्यक्ष रूप में इसके अन्दर बाहर है। इन्द्रियां भी हैं, परन्तु चेतन-सत्ता निकल जाने से यह देह न सुन सकता है, न देख सकता है, न बोल सकता है। बस इसी 'मैं यह हूँ' को जान लेना है। देह परिवर्तनशील है; परन्तु चेतन सत्ता= आत्मा नहीं बदलता।

याज्ञवल्क्य तथा जनक की वार्ता आत्म-दर्शन के सम्बन्ध में चल रही थी। तब जनक ने प्रश्न किया:—

कतम आत्मा इति।

"वह आत्मा इस देह में कौनसा है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया:—

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः

(बृ० ४-३)

"यह जो विज्ञानस्वरूप, इन्द्रियों से घिरा हुआ, हृदय के अन्दर ज्योति-पुरुष है"।

यह आत्मा है। याज्ञवल्क्य फिर कहते हैं, "जैसे नमक का एक ढेला हो, न उसके कुछ अन्दर है न बाहर; किन्तु सारे का सारा वह एकरस का ही ढेला है। इसी प्रकार यह जो आत्मा है न इसके कुछ अन्दर है न बाहर है; किन्तु यह सारे का सारा एक चेतनता का ही पुञ्ज है। जो इन भूतों (प्राणधारियों) से प्रकट होकर इन्हीं में गुम हो जाता है।" जैसे नाटक में पर्दे के पीछे से नट (एक्टर) आकर और अपना खेल खेल कर फिर पर्दे के पीछे चला जाता है, इसी प्रकार आत्मा फिर पर्दे की ओट में हो जाता है।

ये जितने रूप बदलते हैं, सब माया या प्रकृति के रूप हैं। परिणाम या परिवर्तन केवल प्रकृति में होता है। आत्मा और परमात्मा कभी नहीं बदलते। इस रहस्य को वेद ने भी और उपनिषदों ने भी, स्पष्ट रूप में बताया है। योगी महानुभाव तो जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति को अलग-अलग साक्षात् देखते हैं। साधक के लिये यह समझना आवश्यक है कि प्रकृति भोग्य है, जीवात्मा भोक्ता है। प्रकृति जीवात्मा के लिये नाना रूप धारण

करती है। आत्मा के भोग का भी और अपवर्ग का भी प्रबन्ध करती है। आत्मा उन भोगों को भोगता भी है, और मोक्ष की भी तय्यारी करता है। जितनी सृष्टि है और सृष्टि में जो कुछ है, यह प्रकृति और आत्मा के संयोग ही से है। परमात्मा इन दोनों के इस खेल को देख रहा है। प्रकृति को भगवान् ने एक नियम के अन्दर रखा हुआ है। प्रकृति को मजाल नहीं कि उन नियमों का उल्लंघन कर सके। भगवान् ने प्रकृति को यही आज्ञा दे रखी है कि वह जीवात्मा के कल्याण के लिये सदा दासियों की भांति खड़ी रहे। परन्तु जिन नियमों में उसे रखा गया है, उन्हीं में रहकर सेवा करे। जीवात्मा को परमात्मा ने वेदादेश देकर पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है कि जो समय जीव को परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये दिया गया है, इसका वह सदुपयोग करे। यदि जीव ने प्रकृति के लुभायमान जालों में फंसना स्वीकार न किया, तो यह परमात्मा को सर्व-सौन्दर्यों का भण्डार मान कर उसी की ओर झुक जाता है। आनन्द की हिलोरें लेता है। और यदि माया के जाल में फंस गया, तो फिर प्रकृति ऐसा जकड़ती है कि इसे सर्वथा विवश बना देती है। इस विवशता (पराधीनता) से निकलना और माया से अलग अपनी चेतन सत्ता का पूर्ण विश्वास ही आत्म-दर्शन है। इसी का विवेक करना है।

आत्म-दर्शन तक ही कठिनाई है। यह जप, तप, अभ्यास आदि इसीलिये हैं। जब आत्म-दर्शन पा लिये, तो फिर प्रभु-दर्शन में अधिक देर नहीं लगती। तब केवल प्रभु की कृपा ही की प्रतीक्षा शेष रह जाती है।

—❀—

ओ३म् उत स्वया तन्वा संवदे तत्,
कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यं हृणानो जुषेत,
कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम् ॥
(ऋ० ७—८६—२)

[८]

प्रभु-दर्शन

—:×:—

आत्मा और परमात्मा में इतना ही भेद है कि आत्मा केवल एक शरीर में निवास करता है और परमात्मा सारे जगत् में रमा हुआ है। वह जगत् से बाहर भी है। जैसे आत्मा शरीर का काम चलाता है, वैसे परमात्मा सारे संसार का काम चलाते हैं। मनुष्य का शरीर छोटा है, अल्प है सीमित है, इसलिये जीवात्मा दुःखी होता है, क्योंकि आनन्द अल्प में नहीं, भूमा में है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है :—

यो वै भूमा तत्सुखमनल्पे सुखमस्ति ।

(७—२३—१)

"भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।"

और यह भूमा परमात्मा है, जो न किसी सीमा में है, न किसी देश या काल में बन्धा है। वह परमानन्द का धाम है। यह जीवात्मा भी उसी को जान कर और उसके दर्शन करके आनन्दमय हो जाता है। उसी भूमा (परमात्मा) के सम्बन्ध में उपनिषद् का यह आदेश है :—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्। सह ब्राह्मणा विपश्चितेति॥

(तै० २—१)

"जो उस परब्रह्म परमात्मा को जानता है, जो सत्य (सदा एक रस रहने वाला) ज्ञान और अनन्त है और हृदय की गुफा के अन्दर परम-आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह एक दम उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है।"

मुण्डक उपनिषद् ने भी उस भूमा का पता बतलाया है :—

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥

(मुण्डक० २—२—६)

"सुनहरी परम कोष (हृदय) में निर्मल निरवयव ब्रह्म है, वह शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति है, उसको वे जानते हैं, जिन्होंने अपने आपको पहचाना है।"

अपने आपको पहचानने का यही प्रयोजन है कि जिसने आत्म-दर्शन कर लिये हैं। आत्मदर्शी ही उस परमात्मा को, हृदयाकाश में विराजमान उस प्यारे प्रियतम प्रभु को पा लेता है। इससे कहीं यह न समझ लें कि बस ब्रह्म इतना ही है, जो हृदयाकाश में बैठा है, अपितु—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ।

(तै० ३—१०)

"जो यहाँ पुरुष में (हृदयाकाश) में शुद्धस्वरूप है, और वहाँ सूर्य में है, वह एक ही है ।"

कठ-उपनिषद् में कहा है:—"जो यहाँ है, वही वहाँ है। जो वहाँ है, वही फिर यहाँ है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इसमें भेद-सा देखता है।"

(कठ० ४-१०)

श्वेताश्वेतर उपनिषद् ने तो स्पष्ट कह दिया:—

"वह देव एक है। सारे भूतों में छिपा हुआ है। सर्वव्यापक है। सब भूतों का अन्तरात्मा है। कर्मों का अधिष्ठाता है। सब भूतों का आधार है। साक्षी है। चेतन है। केवल (शुद्ध एक तत्व) है और निर्गुण है।"

(श्वेता० ६-११)

परमात्मा को उस का भक्त हर स्थान पर अनुभव करता है। इस सारे संसार को कितने प्रबल नियम से कोई सत्ता चला रही है। पर्वतों पर वर्षा होती है, हिम पड़ती है। तब नदियाँ, नाले, स्रोत बह निकलते हैं। वह सारा जल कल-कल करता नीचे की ओर दौड़ता हुआ, सैंकड़ों सहस्रों मील की लम्बी यात्रा करता हुआ, अन्त में समुद्र में जा मिलता है। उस समुद्र में से सूर्य द्वारा वह जल फिर ऊपर खैंचा जाता है। वाष्प बन कर वह नीचे से ऊपर सहस्रों फुट की ऊँचाई पर चला जाता है। फिर मेघ का रूप धारण करके पर्वतों में वर्षा बन कर या हिम बन कर अपनी यात्रा फिर से प्रारम्भ कर देता है। कितना अटल-नियम है। यदि भगवान् जल को इस नियम में न रखते, तो यह सारे नद, नदियों, स्रोत

सूख जाते; परन्तु करोड़ों अरबों वर्ष व्यतीत हो गये और प्रभु के इस अटल-नियम पर यह जल चल रहा है। इस सूर्य और चन्द्र को देखो। मनुष्य की बनाई हुई घड़ियां आगे पीछे हो सकती हैं; परन्तु सूर्य और चन्द्र एक क्षण के लिये भी न लेट होते हैं, न समय से पूर्व दिखलाई देते हैं। निस्सन्देह कोई महान् शक्ति या सत्ता प्रभु है। वही ईश्वर है। वही सब का अन्तरात्मा है। वही परमात्मा है।

एक तो हमारे प्यारे प्रियतम का यह विराट रूप है। संसार की हरएक वस्तु में साधक उसे अनुभव कर सकता है। इस में भी वह दो प्रकार से दिखलाई देता है। एक तो समष्टि (सारे के सारे) जगत् के अन्तरात्मा के रूप में। दूसरे जब हम सूर्य, चन्द्र तथा अन्य नक्षत्रों और अग्नि इत्यादि में उस की झलक देखते हैं, तो यह उस का व्यष्टि रूप होता है। फिर समष्टि जगत् में उसे तीन प्रकार से खेल खेलते हुए देखते हैं। एक तो जगत् की परम-प्रकृति (असली उपादान कारण) है, जिसे माया कहते हैं। दूसरे—जब इस प्रकृति से यह जगत् पहले सूक्ष्म रूप में बनता है, तब उस के अन्तरात्मा के रूप में। तीसरे—इस दृश्यमान् स्थूल जगत् के अन्तरात्मा के रूप में। यह उस का तीन प्रकार का स्वरूप समष्टि जगत् से सम्बन्ध रखता है। यह समष्टि और व्यष्टि रूप में भगवान् का सारा कार्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। जब साधक इस प्रकार से जगत् की हरएक वस्तु में अपने प्रियतम को देखता है, तब वह सूर्य, चन्द्र, वायु, जल इत्यादि को कार्य करते हुए देख कर वेद के शब्दों में पुकार उठता है :—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन।

(अथर्व० १०—७—३७)

"वायु क्यों बन्द नहीं होता ? मन क्यों दम नहीं लेता ? पानी किस सच्चाई को चाहते हुए कभी नहीं ठहरते ? यह सब किस के नियम में बन्धे हुए सदा अपने काम में तत्पर रहते हैं ?"

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधिसूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।
(ऋ० १०—१२१—६)

"जिस की रक्षा से थमे हुए अपनी मर्यादा में खड़े हुए द्यौ और पृथिवी मन से कांपते हुए उस की ओर देखते हैं, और जिस के आधीन सूर्य्य उदय होकर चमकता है, उस प्रभु की हम हवि से पूजा करें।"

उपनिषद् के शब्दों में साधक कह उठता है:—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।
(कठ० ५—१३)

"नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, अकेला ही जो बहुतों की कामनाओं को रचता है, उस को जो धीर पुरुष आत्मा में स्थित देखते हैं, उन को सदा शान्ति होती है। औरों को नहीं।"

उस फैले हुए ब्रह्म की महिमा को देख कर, और उसी को सारे जगत का भी और अपना भी सहारा समझ कर साधक कहता है:—

एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः ।

(बृह० ४-३-३२)

"यह (ब्रह्म) इस (आत्मा) की परम गति है । यह इस आत्मा की परम सम्पदा है । यह इस का परम लोक है । यह इस का परम आनन्द है ।"

ऐसे परमात्मा को पाने, देखने, और जानने का कौन-सा साधन है ? इस के सम्बन्ध में उपनिषद् का आदेश है—

सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि
शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः

(मुण्डक ३-१-५)

"सच्चाई, तप, यथार्थज्ञान और ब्रह्मचर्य में यह आत्मा सदा पाया जाता है, जो शरीर के अन्दर शुद्ध ज्योतिर्मय है, जिस को वह यतिजन देखते हैं, जिन के दोष क्षीण हो गये हैं ।"

प्रभु के दर्शनों के लिये दोषों का क्षीण होना आवश्यक है । इस लिये सच्चाई, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य द्वारा अपने अन्दर योग्यता उत्पन्न कर लेनी चाहिये । तब वह प्यारा जहां सारे जगत में दृष्टिगोचर होता है, वहां भक्त के अपने हृदय में भी उस के दर्शन ज्योति के रूप में होते हैं ।

बाह्य-जगत में प्यारे की महिमा अनुभव करते हुए अब आंखें बन्द करके अन्दर चलो । शरीर के अन्दर के व्यापार बाह्य

जगत से भी लाखों गुणा आश्चर्य-जनक है। यह अन्दर का कारखाना भी प्रभु की कृपा ही से चलता है। बाहर के जगत और अन्दर के कारखाने में यह भेद है कि बाहर तो परमात्मा और प्रकृति ही का सारा खेल है, शरीर के अन्दर परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति, इन तीनों की सम्मिलित महिमा है। इसी मनुष्य शरीर के अन्दर इन तीनों को निखरे हुए रूप में देखता है।

मनुष्य शरीर को उपनिषदों ने 'ब्रह्मपुर' कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् ने तो घोषणा की है कि—

अथ यदिदऽमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यामिति ॥ (८—१)

"यह जो ब्रह्मपुर (शरीर, है, इसमें एक छोटा-सा आकाश है। अब उस (छोटे आकाश) के अन्दर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिये।"

यह है वह आत्मा, जो सारे पापों से अलग है। जरा और मृत्यु से परे है। शोक से परे है। भूख और प्यास से परे है। जो सच्ची कामनाओं वाला और सत्य संकल्पों वाला है।"

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षावल्ली के छटे अनुवाक में कहा है:—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः।

"वह जो हृदय के भीतर आकाश है, उसमें यह विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय पुरुष परमेश्वर रहता है।"

कठ (३-१३) में यह आदेश है:—

"उपलब्धस्य तत्वभावः प्रसीदति।"

परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले साधक के लिये, परमात्मा का तात्विक स्वरूप (अपने आप) शुद्ध हृदय में प्रत्यक्ष हो जाता है।

जब सुकेशा ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से यह पूछा कि सोलह कलावाले पुरुष भगवान् के दर्शन कहां होते हैं? तो महर्षि ने उत्तर दिया:—

इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति।

(प्रश्न० ६-२)

"हे प्रिय! यहां इस शरीर में ही वह पुरुष है, जिस में सोलह कलायें प्रकट होती हैं।"

कहीं वाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। इसी हृदय में प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है। प्रभु-दर्शन पाने के लिये इसी शरीर के अन्तःस्थल 'हृदयदेश' में प्रवेश करना होता है। कहीं और जाने की जरूरत नहीं रहती। इस हृदयदेश में प्यारे को पाकर मानव किस प्रकार कृत्यकृत्य हो जाता है, इसका उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् ने इस प्रकार किया है:—

आप्नोति स्वराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पति श्चक्षुष्पतिः। श्रोत्र पतिर्विज्ञानपतिः एतत्ततो भवति॥

"वह स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है। मन के स्वामी को पा लेता है। वह वाणी का स्वामी हो जाता है। नेत्रों का स्वामी, कानों का स्वामी, विज्ञान का स्वामी हो जाता है। उस पहले

बतलाये हुए साधन से यह फल होता है।"

क्या संसार की कोई ऐसी बात रह गई है, जो प्रभु-दर्शन पाने वाले को प्राप्त न हो जाती हो ? स्वराज्य प्राप्ति का प्रयोजन यह है कि वह किसी के आधीन नहीं रहता। प्रकृति का भी स्वामी हो जाता है। सारी इन्द्रियों, इन्द्रियों के सारे देवताओं, और सारे विज्ञानों का भी स्वामी बन जाता है।

इतना मीठा फल कौन प्राप्त नहीं करना चाहता ? तब आओ हम उसके दर्शन के सीधे साधन को अपनायें। और यह केवल कथन मात्र ही नहीं है, इतिहास बतलाता है कि जिन्होंने प्रभु-दर्शन पालिये, वे क्या अनुभव करने लगे। इस सम्बन्ध में ऋषि त्रिशंकु ने अपना जो अनुभव बतलाया है, उसे तैत्तिरीयोपनिषद् ने इन शब्दों में प्रकट किया है:—

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वं पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविण ँ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः

(१—१०)

"मैं संसार-वृक्ष का उच्छेद करने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की भान्ति उन्नत है। अन्नोत्पादन शक्ति से युक्त सूर्य में जैसे उत्तम अमृत है, उसी प्रकार मैं भी अतिशय पवित्र अमृत-स्वरूप हूँ। परमानन्द रूप अमृत में निमग्न और श्रेष्ठ धारणा-युक्त बुद्धि से सम्पन्न हूँ।"

ब्रह्म-प्राप्ति के पश्चात् त्रिशंकु ऋषि ने अपनी शक्ति का जो अनुभव किया, यह उसी की अभिव्यक्ति है। इस में स्पष्ट बतला दिया गया है कि परमात्मा को प्राप्त करके भक्त हर एक शक्ति

का स्वामी बन जाता है—जन्म मरण के बन्धन से भी छूट जाता है।

लोहा जब अग्नि में पड़ कर अग्निवत् हो जाता है, तो फिर किसी की क्या मजाल है कि उसे छू सके। अग्नि के सारे ही गुण लोहे में आ जाते हैं। जब भक्त ने भगवान् को प्राप्त कर लिया, तो अब मृत्यु की, दुखों की, सैंकड़ों नृत्य करने वाली प्रकृति की, क्या मजाल कि उसे अपने जाल में फसा सके? वह तो स्वतन्त्र हो गया। आनन्दमय हो गया। अब प्रभु-दर्शन से तृप्त हुआ हुआ भक्त संसार में रहता हुआ, दुनिया के कार्य करता हुआ भी, इन में लिप्त नहीं होता। संसार रूपी सागर को जाननेवाले पुरुष सांसारिक व्यापार का न तो त्याग करते हैं, और न उस की आकांक्षा ही करते हैं। वे सारे व्यवहारों का अनासक्त रूप से प्रयोग करते हैं। तब आपत्तियां उन का कुछ बिगाड़ती नहीं और सुख-भोग उन्हें विचलित नहीं करते। वे समभाव से आनन्दमय परमात्मा ही में मस्त रहते हैं। प्रभु-दर्शन का सोम-रस पी कर वह मस्ती चढ़ती है कि जो फिर उतरती ही नहीं।

नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन-रात।

ऋषि दयानन्द ने ऋगवेदादि भाष्य भूमिका में यजुर्वेद के ११ वें अध्याय के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए लिखा है:—

"वही परमात्मा अपनी कृपा से उन (उपासकों) को युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है, और वही सविता उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है।"

(ऋग० भा० भूमिका)

वहीं ऋषि ने इस मन्त्र का भी उल्लेख किया है:—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा,
आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।
(य० वेद ११—५)

"हे मोक्ष-मार्ग के पालन करने वाले मनुष्यो ! तुम सब लोग सुनो कि जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्ष सुखों को पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासना-योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त होओ । इस में सन्देह मत करो । इस लिये मैं तुम को उपासना-योग से युक्त करता हूँ ।"

उपासना-योग के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द अपना यह अनुभव लिखते हैं:—

'जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जान के उस की उपासना करता है, वह अपनीसम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है, यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ।"

इस के बाद ऋषिवर आदेश करते हैं:—

जब मनुष्य उपासना-योग से परमेश्वर को प्राप्त हो के प्रमाद रहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ ।"

(ऋ० भा० भूमिका)

उपासना कैसे करें ?

अब यह तो मालूम हो गया कि वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव अजर, अमर, सर्व-व्यापक भगवान् जहां सारे जगत् में ओत-प्रोत है, वहां इस ब्रह्मपुर (हृदय) में भी विराजमान है । इस शुद्ध-ब्रह्म के दर्शन कैसे पायें ?

छान्दोग्य उपनिषद् में एक सुन्दर कथा आती है:—छः ऋषि वैश्वानर की उपाशना जानने के लिये अश्वपति के पास गये ।

अश्वपति के पूछने पर पहले ऋषि औपमन्यव ने कहा :—
मैं उसको द्यौ में उपासता हूँ।"
दूसरे ऋषि सत्ययज्ञ ने कहा:—
मैं आदित्य में उपासता हूं।"
तीसरे इन्द्रद्युम्न ने कहा:—
मैं वायु में उपासता हूँ।"
चौथे जन ने कहा:—
मैं आकाश में उपासता हूँ।"
बुडिल ने कहा:—
मैं जलों में उपासता हूँ।"
छठे ऋषि औद्दालक ने कहा:—
मैं पृथ्वी में उपासता हूं।"
तब अश्वपति ने सब की बात सुन कर कहा:—

तुम इस वैश्वानर आत्मा को मानो अलग-अलग मान रहे हो, तुमको जानना चाहिये कि इस वैश्वानर आत्मा का द्यौ तो केवल सिर है। सूर्य नेत्र है। वायु प्राण है। आकाश धड़ है। जल वस्ति है और पृथिवी केवल पांव हैं। वह सारे विश्व का अन्तरात्मा है। ऐसा जानते हुए तुम उसे उपासो।"

परन्तु उपासना का सबसे उत्तम स्थान हृदय-देश है। बाह्य-जगत् में उसके छायारूप दर्शन होते हैं। हृदय में ही उसके साक्षात् ज्योतिरूप में दर्शन होते हैं; क्योंकि इस मनुष्य हृदय में देखनेवाला जीवात्मा भी वहीं विद्यमान है। दर्शक और दृश्य दोनों एक ही स्थान पर यदि कहीं हैं, तो वह केवल हृदय-देश ही है। इस हृदय-देश या ब्रह्मलोक में जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही स्पष्ट देखे जाते हैं।

कठोपनिषद् की तीसरी वल्ली में आदेश है :—

"छायातपयोरिवब्रह्मलोके।"

ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति आत्मा और परमात्मा दोनों का स्वरूप अलग-अलग स्पष्ट दिखलाई देता है।

कठोपनिषद् के दूसरे अध्याय की पहली वल्ली में बड़े रहस्य और मर्म की जो बात यम ऋषि ने नचिकेता को बतलाई है, वह यह है :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूत भव्यस्य ततो न विजुगुप्सते एतद्वै तत् ॥१२॥

"भूत से भविष्य पर्यन्त का स्वामी पूर्ण परमेश्वर (आत्मनि-मध्ये) जीवात्मा में अंगुष्ठ परिमाण होकर विराजमान है, जब यह निश्चय हो जाता है, तब मनुष्य चिन्तित नहीं होता—यह एक रहस्य की बात है"

मनुष्य देह में परमात्मा सर्वत्र उसी प्रकार से व्यापक है, जैसे सारे संसार में, और जीवात्मा की जोत भी सारे मानव शरीर में जगती है, परन्तु मानव शरीर में हृदय इन दोनों के मिलाप का विशेष स्थान है। और चूँकि हृदय अंगुष्ठमात्र हैं, अतः उसका निवासी भी अंगुष्ठमात्र हुआ। परमेश्वर परमात्मा का ध्यान भी वहीं अंगुष्ठमात्र ही के रूप में होगा। यम ने स्पष्ट रूप से यह रहस्य खोल दिया है कि परमात्मा के दर्शन मानव देह में जीवात्मा के स्थान अर्थात् हृदय ही में होते हैं। इससे आगे ऋषि फिर कहते हैं :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः
ईशानो भूत भव्यस्य स एवद्य स उ श्वः
एतद्वै तत् ॥ १३ ॥

भूत और भविष्य का स्वामी वह अंगुष्ठमात्र पूर्ण परमात्मा निर्धूम-ज्योति के समान शुभ्र, निर्मल और कान्तिमान् है। वह ही आज साक्षात् करने योग्य है और वही कल साक्षात्करणीय है— बस, यह मर्म की बात है।"

यहाँ ऋषि ने अत्यन्त अन्तरंग-रहस्य प्रकट कर दिया है कि अंगुष्ठमात्र हृदय प्रदेश में परमात्मा के दर्शन शुभ्र और निर्मल ज्योति के रूप में होते हैं।

इतना समीप रहते हुए भी मनुष्य उसके दर्शन क्यों नहीं कर पाता? कारण यह है कि दर्शन करने वाले को बाह्य इन्द्रियाँ और अन्दर का इन्द्रिय-मन अंतर्मुख नहीं होने देते। वह हृदय (ब्रह्म-लोक) में उतरता ही नहीं। जब बहिर्मुख वृत्तियाँ उसे नहीं सताएँगी, तब वह अन्तर्मुख होगा। तभी वह अपने आप को देखता हुआ, शुद्ध-अन्तःकरण वाला होकर फिर अपने आप को जानेगा और अपने प्रियतम को देख लेगा।

कठोपनिषद् में कहा है:—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ० ६–९)

"इसका रूप (आंख से) देखने के लिये नहीं है, न कोई आंख से इसको देख सकता है, यह हृदय से, बुद्धि से, मन से प्रकाशित होता है। जो जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं।"

आत्मा को आत्मा ही से देखा जा सकता है। बाहर और

अन्दर के इन्द्रिय तो सहायक बन सकते हैं। मन केवल भगवान् के मन्दिर के द्वार तक साधक को पहुँचा देता है। अब द्वार खुलवाना और दर्शन करना, यह केवल आत्मा का ही काम रह जाता है।

प्रभु-दर्शन का साधन

ओंकार

वेद ने भी और उपनिषदों ने भी 'ओ३म्' के द्वारा प्रभु-दर्शन का आदेश दिया है। 'ओ३म्' ही के द्वारा पर-ब्रह्म और अपर-ब्रह्म के दर्शन होते हैं।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मने स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥

(मुण्डक० २—२—६)

"जिस प्रकार से रथ के पहिये के केन्द्र में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार शरीर की समस्त नाड़ियां जिस हृदय-देश में एकत्र स्थित हैं, उसी हृदय में नाना रूप से प्रकट होने वाले परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी रूप से रहते हैं। इन सब के आत्मा प्रभु का 'ओ३म्' इस नाम के द्वारा ही ध्यान करो। जो अज्ञान रूप अन्धकार से सर्वथा अतीत और भवसागर के दूसरे पार है, उस प्रभु को प्राप्त करो। तुम्हारा कल्याण हो।"

श्रीपण्डित राजाराम जी ने 'ओमित्येवं ध्यायथआत्मानम्' का अर्थ "उस आत्मा का ओ३म्' इस प्रकार ध्यान करो" किया है। और पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री ने "उस परमात्मा का ओ३म द्वारा ध्यान करो" अर्थ किया है। भाव यह है कि 'ओ३म्' जो

उस का निज नाम है, उसी का ध्यान, उसी का जप, और इसी का स्मरण करते रहो।

प्रश्न उपनिषद् में एक कथा आती है :—

शैब्य - सत्यकाम ने पिप्पलाद से पूछा:—

"हे भगवन्! यदि कोई मनुष्य मरण-पर्यन्त सारी आयु ओङ्कार का ही ध्यान करे, तो वह किस लोक को जीतता है?"

इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा:—

"हे सत्यकाम! वह सचमुच पर और अपर-ब्रह्म है, जो ओंकार है।"

निस्सन्देह 'ओ३म्' प्रभु प्राप्ति का असंदिग्ध और निश्चित् साधन है। इसीलिये पूरे निश्चय के साथ ऋषि ने कहा है :—

'वह सचमुच पर और अपर-ब्रह्म ही है, जो ओंकार है।"

ऋषि पिप्पिलाद फिर आदेश करते हैं:—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति, विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं ॥

प्रश्न० ५—७

"(ओम् की एक मात्रा की उपासना से उपासक) ऋग् मंत्रों द्वारा इस मनुष्य लोक में (पहुँचाया जाता है)। (ओ३म् की दो मात्राओं की उपासना से) यजुर्वेद मंत्रों द्वारा अंतरिक्ष (चन्द्र-लोक तक पहुँचाया जाता है), पूर्ण रूप से 'ओ३म्' की उपासना करने वाला उस ब्रह्म-लोक में (पहुँचाया जाता है), जिसको ज्ञानीजन जानते हैं, विवेक-शील साधक केवल ओ३म के अवलम्बन

(सहारे) के द्वारा ही उस पर-ब्रह्म-प्रभु को पा लेता है, जो परम शान्त है, जो न वृद्धा होता है, न वहाँ मृत्यु है, न भय है। वह सर्वश्रेष्ठ है।"

नचिकेता ने यम से वर मांगने का अधिकार ले लिया, तो यम ने नचिकेता के ज्ञानचक्षु खोलने के लिये भी यही कहा था:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि, सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

"सारे वेद जिस पद का कथन करते हैं, सारे तप जिसका प्रतिपादन करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं, वह पद तुझे संक्षेप से कहता हूँ। वह 'ओ३म्' यह पद है।"

यम ने इस मंत्र में जहां ओ३म् का वर्णन किया है, वहाँ साथ ही 'ओ३म्' के पाने का साधन (वेद ज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य) भी बतला दिया है। प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है:—

तेषामेवैयं ब्रह्मलोको, येषां तपो
ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।

(१—१५)

"जो ब्रह्मचर्य धारण पूर्वक तप करते हैं, जो सत्य से विचलित नहीं होते, उन ही को इस शरीर में हो ब्रह्म-लोक अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है।"

"ओ३म्" परमात्मा के दर्शन का असंदिग्ध साधन है। क्योंकि वेद भगवान् ने स्वयम् यह आदेश दिया है:—

ओ३म् क्रतो स्मर ।

(यजु० ४०—१५)

हे कर्मशील ! "ओ३म्" का स्मरण कर ।

यजुर्वेद के दूसरे ही अध्याय में यह आज्ञा है:—

ओ३म् प्रतिष्ठः ।

(यजु० २—१३)

"ओ३म् में विश्वास-आस्था रख"

इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर "ओ३म्" की महिमा का गायन है और उपनिषदों में भी इसी का व्याख्यान है:—

गोपथ ब्राह्मण में आता है:—

आत्मभैषज्यमात्मकैवल्यमोंकारः

कण्डिका ३० ॥

"ओंकार आत्मा की चिकित्सा और आत्मा को मुक्ति देने वाला है ॥"

माण्डूक्योपनिषद् का पहिला ही आदेश यह है:—

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपाख्यानं भूतं
भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ॥

"ओ३म्, यह अक्षर- न क्षीण होने वाला-अविनाशी है, यह सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्यत् ओंकार का उपाख्यान है। सभी कुछ ओंकार में है"।

अर्थात् ओंकार से बाहर कोई नहीं । कुछ भी नहीं । जो कुछ हो चुका, जो कुछ अब है, और जो कुछ होनेवाला है, वह सब 'ओ३म्' ही की महिमा है।"

महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने पंचमहायज्ञ-विधि में 'ओ३म्' के सम्बन्ध में यह आदेश दिया है:—

"ओ३म, यह पर-ब्रह्म का सर्वोत्तम और प्रसिद्धतम नाम है। इस एक नाम में परमेश्वर के अनेक नाम आ जाते हैं।"

छान्दोग्यपनिषद् का ऋषि कहता है:—

ओ३म् इत्येदत्तरमुदगीथमुपासीत।

"मनुष्य 'ओम्' इस अक्षर को उदगीथ समझ कर उपसना करे"।

इस 'ओम्' उपासना का महत्व प्रकट करने के लिये ऋषि ने मृत्यु से भयभीत देवताओं के सम्बन्ध में लिखा है कि जब देवों को रक्षा का और कोई स्थान न मिला, तो अन्त में वे स्वर में प्रविष्ट हुए, और यह जो 'ओम्' अक्षर है, यही स्वर है, और यही 'ओम्' मृत्यु से रक्षा करने वाला और अभय प्रदान करने वाला है। तब देवता 'ओम' स्वर में प्रविष्ट होकर अमृत हो गये।

यह बतलाने के पश्चात् ऋषि कहता है:—

स य एतदेव विद्वान् अक्षरं प्रणौति,
एतदेवाक्षरं :स्वरमृतमभयं प्रविशति,
तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति।

(छादोग्योथदिषद् ४—५)

जो मनुष्य इस रहस्य को जानकर 'ओम्' अक्षर की स्तुति उपासना करता है, इस अमृत, अभय, अविनाशी स्वर में प्रवेश करता है, तो जिस प्रकार देव अमृत हो गये थे, वैसे ही वह भी अमृत हो जाता है"।

गोपथ ब्राह्मण पूर्व भाग के पहले अध्याय की २२ वीं कण्डि-

का में 'ओम्' की उपासना तथा जप का और भी एक रहस्य बतलाया है। वह यह है:—

"ब्राह्मण को यदि कोई इच्छा हो, तो तीन रात उपवास करे और पूर्व की ओर मुख करके, मौन रहकर, कुशासन पर बैठ कर, सहस्रवार 'ओम्' का जप करे, इस से सारे मनोरथ तथा कर्म सिद्ध होते हैं"॥

'योग-दर्शन' समाधिपाद में जहां निर्बीज समाधि का साधन पूर्ण वैराग्य बतलाया है, वहां इसका सुगम उपाय "ईश्वर-प्रणिधान" भी वर्णन किया है। ईश्वर कौन है? क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए यह प्रकट किया है कि "जो क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मों के फल) और आशय (कर्मों के संस्कार) के सम्बन्ध से रहित तथा समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह ही ईश्वर है"। यही नहीं अपितु वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। और ईश्वर का नाम 'ओ३म्' है। 'ओम्' नाम का जप और उसके अर्थों का चिन्तन करने का आदेश 'योग-दर्शन' ने किया है। और 'ओम' जप से मुक्ति तक पहुँचना बतलाया है, इस के साथ यह अनुभव भी प्रकट कर दिया है कि इस साधना को करते हुए अभ्यासी के मार्ग में जो विघ्न आकर खड़े हो जाते हैं, उन को दूर करने का उपाय क्या है? 'योग-दर्शन' ने जो उपाय बतलाया है, वह यह है:—

तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

"उन (विक्षेप-विघ्नों) को दूर करने के लिये एक तत्त्व (ओम्) का अभ्यास करना चाहिये"।

'ओम्' के द्वारा आत्म दर्शन का उल्लेख केवल वेद भगवान् ब्राह्मण ग्रथों, दर्शनों तथा उपनिषदों ही ने नहीं किया, अपितु पुराणों और तंत्र-ग्रन्थों तक में भी 'ओम्' का विधान किया गया है।

श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में, जहां सूतजी तथा शौनकजी का सम्वाद आता है, वहां सूत जी ने कहा है:—

यदुपासनया ब्राह्मण योगिनो मलमात्मनः ।
द्रव्यक्रिया कारकाख्यं धूत्वा यात्यपुनर्भवम् ॥३८॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो यो ऽव्यक्त प्रभवः स्वराट् ।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९॥

'हे ब्राह्मण ! जिसकी उपासना से योगीजन अपने सारे मल को शुद्ध करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं। ॥३८॥

वह नाद अ, उ, म् तीनों अक्षरों से युक्त "ओम्" स्वरूप में प्रकट हुआ, जिस को उत्पत्ति अव्यक्त है, और जो स्वयम् विराजमान है। और जो भगवान् परमात्मा देव का चिन्ह अर्थात् नाम है ॥३९॥

सूत जी कहते हैं:—

स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वतन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥

परमात्म देव ब्रह्म का साक्षात् वाचक 'ओम' शब्द ही है। वही सर्व मंत्र और उपनिषद् और वेदों का बीज है, वही सनातन है। ॥४१॥

योगवासिष्ठ के उपशम, प्रकरण, १८ में चित्त के विनाश के दो उपाय योग और ज्ञान बतलाते हुए प्राणों के निरोध के साधनों में मुख्य साधन 'ओम्' का उच्चारण ही बतलाया है:—

ओंकारोच्चारण प्रान्त शब्दतत्त्वानु भावनात् ।
सषुप्ते संविदो जात प्राणस्पन्दो निरुद्धयते ॥२१॥

"ऊंचे स्वरसे 'ओम्' उच्चारण होने पर प्रान्त में (अन्त्य में)

शेष तुर्यमात्रा रूप शब्द तत्त्व अनुभूत होता है, उस का अनुसन्धान करने से बाह्य विषयों के विज्ञान का (बहिर्मुख चित्त वृत्तिका) जब अत्यन्त उपराम हो जाता है, तब प्राण वायु का स्पन्दन रुक जाता है।

तन्त्र ग्रन्थों में "महानिर्वाण तन्त्र" को अधिक श्रेष्ठ माना है। इस में महादेव शिव जी तथा पार्वती का सम्वाद है। इस तन्त्र के चतुर्दशोल्लास में शिवजी कहते हैं:—

ओंतत्सदिति मन्त्रेण यो यत् कर्म्म समाचरेत् ।
गृहस्थो वाप्युदासीनस्तस्याभिष्टायतद्भवेत ॥१५३॥
जपो होमः प्रतिष्ठाच संस्कारद्याखिलाः क्रियाः ।
ओंतत्सन्मन्त्र निष्पन्नाः सम्पूर्णाः स्युर्न संशयः ॥१५४॥

"गृहस्थी हो या उदासीन, जो कोई भी क्यों न हो, हे पार्वति! जप, हवन, प्रतिष्ठा और संस्कार आदि सारी क्रियायें यदि "ओम् तत्सत्" इस मंत्र से की जायें, तो वे अवश्य सम्पूर्ण होती हैं, इस में सन्देह नहीं है" ॥

वेदानुयायी हों या पुराणों के भक्त, तन्त्र ग्रन्थों पर चलने वाले हों या अद्वैतवादि, द्वैत मानने वाले हों या त्रित, कोई भी हों, यदि सारे के सारे एक स्थान पर पहुंचकर, एक स्वर से, एक मन होकर, एक ही बात कहते हैं, तो वह यह है, कि 'ओम्' प्रभु दर्शनका बहुत सुन्दर, सरल और सुगम उपाय है। और तो और बुद्ध भगवान् के अनुयायी, जिन को नास्तक कहा जाता है, वे भी 'ओम्' का जप करते हैं। जब मैं गंगोत्री जा रहा था, तो मार्ग में एक ग्राम हर्षल आता है, इस में तिब्बत और भूटान के लोग आबाद हैं, इन्होंने वहां एक नन्हा-सा मन्दिर बना रखा है, जिसकी लग भग हर ईंट, हर पत्थर पर भूटानी अक्षरों में "ओम् मणी पदमे होम"

लिखा है और वे लोग इसी मंत्र का जप करते हैं। कितना महत्त्व-पूर्ण 'ओम्' का मन्त्र है। 'ओम्' का जागते, चलते, बैठे, सोते, जंगल में, बस्ती में हर समय जप करते रहने का स्वभाव बना लेना बड़ा लाभ देता है।

'ओम्' को प्रभु-दर्शन का साधन बनाने का यह ढंग है कि यम और नियम के व्रत पूरे करके, दृढ़ आसन लगा कर, रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम की जो विधि महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सर्वसाधारण के लिये सत्यार्थ प्रकाश में, अपने पूरे अनुभव से लिखी है, उस के अनुसार प्रारम्भ करे। स्वामी जी लिखते हैं:—

"जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फैंक कर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवें। जब बाहर निकालना चाहें, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखें, तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो, तब धीरे-धीरे भीतर वायु को ले के फिर भी वैसे ही करते जायें, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो, और मन में 'ओ३म्' इस का जप करते जायें। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है। 'बाह्य विषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना, दूसरा 'आभ्यन्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाये, उतना रोक के, तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहां का तहां प्राण को यथाशक्ति रोक देना, चौथा 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर आने लगे, तब उसके विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाये। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध किया करें तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते

है। यज्ञ पुरुषार्थ बढ़ कर बुद्धि तीव्र, सूक्ष्म रूप हो जाती है, और बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।"

आगे चलकर ऋषि दयानन्द जी महाराज ने लिखा है:—
"जंगल में अर्थात् एकान्त में जा, सावधान हो के, जल के समीप स्थित हो के, नित्यकर्म को करता हुआ 'सावित्री' अर्थात् 'गायत्री-मन्त्र' का उच्चारण, अर्थ ज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जप मन से करना उत्तम है।"

इस प्रकार प्राणायाम तथा 'ओम' का जप करता हुआ साथ ही भृकुटि या आज्ञा-चक्र में 'ओम' का ध्यान से लिखा देखे।

महर्षि दयानन्द ने उपासना के लिये एकान्त देश का भी उल्लेख किया है। इस लिये इस सम्बन्ध में भी कुछ लिख देना उचित समझता हूँ।

स्थान

'ओम्' का जप तथा 'गायत्री' का जप एकान्त, सुन्दर स्थान पर करना चाहिये; क्योंकि स्थान या देश का भी बड़ा प्रभाव होता है। वेद भगवान् का भी आदेश है:—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥

(ऋ० ८-६-२८)

"पहाड़ों की गुफाओं में, और नदियों के संगम पर ध्यान

करने से विप्र विद्वान्, ब्राह्मण बना करते हैं।"

मेरा अपना अनुभव यह है कि कितने ही स्थल ऐसे हैं, जहां सहस्रों वर्षों से तपस्वी, योगी और साधक लोग साधना, तप और योग करते चले आ रहे हैं। उन स्थलों में ऐसा वायु-मण्डल और वातावरण बन गया है कि वहां शांतचित्त से बैठकर 'ओम्' का जप तथा 'ओम्' का ध्यान किया जाये, तो सफलता शीघ्र प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में कुछ अपने अनुभव भी लिखना चाहता हूं। चिरकाल से मैं प्रति वर्ष एक दो महीनों के लिये भिन्न-भिन्न पर्वतों और वनों में चला जाया करता हूँ और सर्वथा निर्जन और एकान्त स्थान खोज कर मौन रह कर साधना करता हूँ। इस प्रकार कितने ही स्थानों में मैंने अनुभव किया है कि एकाग्रता बहुत शीघ्र मिलती है। हाँ कितने ही स्थान ऐसे भी मैंने देखे, जहां एकाग्रता तो एक ओर रही, उल्टा मन बहुत चंचल हो उठता है। कुछ स्थान मैंने ऐसे भी देखे, जहाँ मन को समाहित करने में विशेष सहायता मिलती है। इनमें से एक तो जोगेन्द्रनगर, हिमाचल प्रदेश के ऊपर 'सियूरी वन' है। इस वन में मैं दो मास तक मौन रहा। मुझे वहां पूरी शांति मिली। दूसरे बैजनाथ जिला काँगड़ा के ऊपर 'घट्टा जंगल' में। तीसरा अनुभव देहरादून से तीन मील पूर्व की ओर नालापानी का तपोवन है। अमृतसर के धर्मप्रेमी, दानवीर श्री बाबा गुरुमुखसिंह जी ने यह सुन्दर वन कितने ही वर्ष हुए खरीद किया था। जब पूज्य गुरुदेव श्रीस्वामी आत्मानन्द जी सरस्वती से जमना नगर के साधन आश्रम में, मैंने सन्यास की दीक्षा ली, तो मैं आत्म-चिन्तन और आत्म-दर्शन के लिये नालापानी के इसी 'तपोवन' में पहुँचा, और एक पर्ण कुटि घने वन में बना कर, मौन हो गया। यह 'तपोवन' अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। अब तो इस 'तपोवन' के नीचे श्री बाबा

गुरुमुखसिंह जी के त्याग तथा तप से एक विशाल आश्रम तथा यज्ञशाला भी बन गई है, और पृथक-पृथक कुटियायें भी। जो-जो भी प्रभु-भक्त इस 'तपोवन' में आये हैं, उन्होंने अपना यही अनुभव बतलाया है, कि यह स्थान मन को वश में करने में पर्याप्त सहायता देता है।

देहरादून स्टेशन से 'तपोवन' आश्रम तीन मील के अन्तर पर है। तपोवन आश्रम तक मोटर ताँगा जाता है, आश्रम से फिर एक मील की चढ़ाई चढ़ कर 'तपोवन' आ जाता है॥ चौथे सब से बढ़ कर स्थान यह गंगोत्री है, जहाँ बैठा हुआ मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। बाल ब्रह्मचारी योगीराज श्रीस्वामी व्यासदेव जी ने यहां 'योग हुआ निकेतन' बनाया है। इसी निकेतन की एक कुटिया में मेरा निवास है। यहां तो वायु-मण्डल इतना शुद्ध, पवित्र, गम्भीर तथा शांत है कि अशान्त-हृदय जन भी यहां शांत हो जाता है। इसका कारण यही है कि हजारों वर्षों से गंगोत्री एक तपोभूमि बनी हुई है। गंगा की ध्वनि के अतिरिक्त यहां और कोई शब्द सुनाई नहीं देता। देवदारु और भोज-पत्र के वृक्षों के इस वन में इतनी शान्ति है कि मन स्वयमेव शान्त होने लगता है, और अब भी कितने ही तपस्वियों तथा योगियों की यह तपोभूमि बनी हुई है। ऐसे स्थान निस्सन्देह आत्म-दर्शन और प्रभु-दर्शन में सहायक होते हैं। ऐसे स्थलों में जब साधक तन्मय होकर, शरीर को सीधा रख कर, एक आसन में बैठ कर, 'ओ३म्' पर ध्यान जमाता है और 'ओ३म्' का ही प्राणों द्वारा मन में जप करता है और साथ ही प्राणायाम भी करता है; तो उसके अन्तःकरण में पवित्रता आते-आते वह पर्दा फट जाता है, जिसने कि अन्दर के प्रकाश को छिपा रखा है।

मेरा पांचवां अनुभव ऋषिकेश से लेकर गरुड़चट्टी तक का

है। ऋषिकेश में वैदिक आश्रम, आर्य समाज मन्दिर से लेकर, मुनी की रेती, गंगा किनारे की झाड़ी, फिर स्वर्ग-आश्रम और इसके ऊपर नीलकण्ठ का पर्वत और फिर लछमन झूला और वहां से गरुड़चट्टी का यह सारा प्रदेश भी अपने अन्दर कुछ विशेषता रखता है और साधकों की पूरी सहायता करता है। परन्तु मलेरिया के दिनों में इस प्रदेश में नहीं रहना चाहिये।

पूना से १५-२० मील परे शिवाजी महाराज का किला सिंहगढ़ भी कभी तपोभूमि रहा है। वहां जाकर मैंने अनुभव किया कि वहां भी मन को एकाग्र करने में, वहां का वायुमण्डल सहायता देता है। रियासत मण्डी के आस-पास के जंगल भी ध्यानियों के लिये लाभदायक हैं।

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने उत्तराखण्ड की उत्तर काशी के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लिखा है:—

"उत्तर काशी आदि स्थान ध्यानियों के लिये अच्छा है; परन्तु दुकानदारों के लिये वहाँ भी दुकानदारी है।"

केदार बद्रीनाथ के सम्बन्ध में लिखा है :—

"केदार का स्थान और वहाँ की भूमि बहुत अच्छी है। बद्रीनारायण की भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है।"

एक और स्थान भी मुझे प्रिय लगा, जो रियासत जम्मू में है। जम्मू नगर से ऊधमपुर को जाते हुए मार्ग में मैंथल पड़ाव आता है। वहाँ से मैंथल पैदल जाना होता है। यह स्थान वहाँ से झज्जर खड्ड पार करके, एक स्थान मुत्तल आता है। जंगलगली भी इसे कहते हैं। यहां जल का एक सुन्दर स्रोत है। इस स्थान पर भी एकाग्रता मिलती है।

मैं एक और स्थान का भी उल्लेख करना चाहता हूँ। यह स्थान हैदराबाद (दक्षिण) में है। हैदराबाद (सिकंदराबाद) नगर से

१०-१५ मील परे 'घटकेश्वर' गुरुकुल की भूमि तथा इसका जंगल भी मन को एकाग्र करने में सहायक बनता है। इसी प्रकार नर्बदा नदी का तट और इसके किनारे के जंगलों के कुछ भाग भी सात्विक वायुमण्डल से पूर्ण हैं और वहाँ अच्छे-अच्छे योगियों की कुटियायें भी हैं।

इसी प्रकार के और भी कई स्थल होंगे, जहां मैं अभी तक पहुँच नहीं सका।

अपने घर में

परन्तु इसका यह प्रयोजन नहीं कि शेष स्थानों, नगरों, ग्रामों या बस्तियों में प्रभु-भजन नहीं हो सकता। हो सकता है और निस्सन्देह हो सकता है। सांख्य-दर्शन के अन्तिम अध्याय के ३१ वें सूत्र में कहा गया है कि ध्यान के लिये किसी पर्वत, वन या गुहा का नियम नहीं है। जहाँ भी चित्त एकाग्र करने में सुभीता हो, वहीं उपासना और भजन हो सकता है। इन विशेष स्थानों का वर्णन तो केवल उनके लिये कर दिया गया है, जो प्रभु भजन में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हों, या जो एकाग्रता में सहायक स्थान चाहते हों। सारी दुनिया तो इन स्थानों में नहीं आ सकती। उनके लिये अपनी नागरियों से बाहर या अपने ही घरों में निवास करते हुए आत्म-दर्शन का प्रयत्न करना ठीक है।

हां, यह अवश्य होना चाहिये कि प्रभु-भजन के लिये अलग कमरा या स्थान हो। उसमें प्रभु-भजन के अतिरिक्त और कोई काम न हो। कमरे में हवनकुण्ड हो। पवित्र ग्रन्थ रखे हों। कमरे को प्रतिदिन शुद्ध किया जाये और जिस समय इस कमरे या स्थान में प्रवेश करने लगें, तो यह धारणा करें कि मैं अब प्रभु-मन्दिर में जाने लगा हूँ। बाहर की दुनिया से इस समय मेरा कोई सम्बन्ध

नहीं। जिस प्रकार एक प्रेमी अपने प्रियतम के साथ एकांत में बैठ कर मन की बातें करता है, आप भी अपने प्रियतम से मिलाप का यत्न करते समय, बाकी सब कुछ भूल जायें और 'ओश्म्' प्रभु ही में अपने आत्मा को जोड़ कर उससे निवेदन करें :—

(१) तुम प्रभु दीन दयाल जी, आय पड़ा हूँ द्वार।
जैसा कैसा हूँ हरी, कीजे यह न विचार॥
(२) प्रभु वह दिन कब आयेंगे, बैठूँगा एकान्त।
नित्य करूं स्वाध्याय को, आय हृदय में शांत॥
(३) वर दीजो हे ओम् यह, कृपा कर प्रिय नाथ।
ओम् ओम् जपता रहूँ, सदा प्रेम के साथ॥
(४) तोर लग्न मन में रहे, जब लग घट में प्राण।
तेरा ही सिमरन रहे, तेरा ही हो ध्यान॥

ऐसी विनति करने के पश्चात् प्राणायाम करे। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि प्राणायामों के द्वारा अंतर की शुद्धि होती है। प्राणायाम के पश्चात् सर्वथा शांत स्थिर हो जायें। न शरीर हिले, न मन को कोई चेष्ठा करने दीजिये। अपना ध्यान 'ओम्' अक्षर में अथवा आज्ञा-चक्र 'भृकुटी' में रखें। इसी को अपना निशाना बना लीजिये। इसी में आप ने आत्मा का तीर लगाना है।

पिप्पलाद ऋषि ने प्रभु-दर्शन का जो साधन बतलाया है, वह यह है :—

"ज्ञान के धनुष को पकड़ भारी अस्त्र है, उसमें उपासना—लगातार ध्यान से तेज किये हुए तीर को जोड़ो और फिर केवल उसी सत्ता में लगाया हुआ जो चित्त है, उससे इसको खैंच कर,

उस अविनाशी लक्ष्य (निशाने) को वींधो। ओंकार धनुष है, आत्मा तीर है, और उसका ब्रह्म लक्ष्य कहलाता है। इसको एक अप्रमत्त—पूरा सावधान—पुरुष वींध सकता है, और वह तीर की नाईं (जो लक्ष्य पर लग कर उसके साथ एक रूप हो गया है, इस प्रकार वह ब्रह्म के साथ) अन्दर बाहर सब कुछ भूलकर—तन्मय हो जाये।"

(मुण्ड० २-२)

श्वेताश्वतर ऋषि ने अपना अनुभव इस प्रकार से प्रकट किया है :—

"जैसे आग लकड़ी के अन्दर ही है, पर उस की मूर्ति बाहर दिखाई नहीं पड़ती, और न ही उसके चिह्न का नाश होता है। वह आग फिर लकड़ी से ग्रहण की जाती है। लकड़ियों के रगड़ने से उनमें छिपी हुई आग प्रकाशित हो पड़ती है, ऐसे ही 'ओम्' के द्वारा आत्मा इस देह में ग्रहण किया जाता है। अपने देह को (नीचे की) अरणि (लकड़ी) बना कर और 'ओम्' को ऊपर की अरणि बना कर "ध्यान रूपी रगड़ के अभ्यास से अपने इष्ट-देव प्रभु के दर्शन करो।"

(श्वेता०-१-१३-१४)

'ओम्' एक अद्भुत शक्ति है, यह प्रभु-दर्शन का अचूक साधन है। सारे वेदों में, सारे प्राचीन ग्रन्थों में, सारे उपनिषदों में, इसी एक ओम् ही के द्वारा प्रभु-दर्शन का आदेश किया गया है। कठ-उपनिषद् ने इसी लिये ऊंचे स्वर से गाया है :—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत ॥१६॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्म लोके महीयते ॥१७॥

(कठ. १)

"यही (ओम्) अक्षर ब्रह्म है, यही अक्षर परब्रह्म है, इसी अक्षर को जान कर जो, जो कुछ चाहता है, वह, वही कुछ पाता है ॥१६॥ यही श्रेष्ठ सहारा है, यही सब से बढ़ कर सहारा है, इस सहारे को पकड़ कर ब्रह्मलोक में मान पाता है" ॥१७॥

प्रश्न उपनिषद् में कहा है:--

"जो तीन मात्रा (अ, उ, म) वाले अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करता है, वह तेज में (सूर्य में) पहुँच कर जैसे साँप केंचुली से छूट जाता है, इस प्रकार पाप से छूट जाता है।"

(प्रश्न० ५—५)

छान्दोग्य उपनिषद् ने ओम् के ध्यान की महिमा इस प्रकार गाई है:—

"वह ओम् पर ध्यान जमाता हुआ जाता है (जब उसने ब्रह्म-लोक को जाना होता है, जो उसने उपासना से जाना है) सो वह जितनी देर में मन फैंका जाता है, उतनी देर में सूर्य में पहुँच जाता है। क्योंकि यह (सूर्य) लोक (ब्रह्मलोक) का द्वार है, जो ज्ञानियों के लिये खुला है, और अज्ञानियों के लिये बंद है।"

(छा० ८-३-५)

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने फिर कहा है :—

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि
रापः स्रोतः स्वरणिषु चाग्निः।

एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसायोऽनुपश्यति ॥
(१—१५)

"जैसे तिलों में तेल, दही में मक्खन, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि (पीलने, बिलोने, खोदने और रगड़ने से ग्रहण की जाती है, इसी प्रकार परमात्मा भी आत्मा में ग्रहण किया जाता है, यदि कोई सत्य और तप से उसे देखता है।"

तब एक अद्भुत ज्योति प्रगट हो जाती है, आत्मा परमात्मा को ज्योति रूप में देखता है, और श्वेताश्वतर के अनुभव में तब—

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न
सन्नचासच्छिव एव केवलः ।
(श्वेता० ४-१८)

"जब प्रकाश उदय होता है, तो वहां न दिन, न रात, न व्यक्त न अव्यक्त है, वहाँ केवल शिव है।"

प्रयत्न करते रहो

परन्तु इस साक्षात् दर्शन के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहना होगा। तिलों से तेल ऐसे ही नहीं निकल आता। कोल्हू बनवाना होता है। बैल लाना होता है। सारी सामग्री एकत्रित करनी पड़ती है। फिर कोल्हू में तिल डाल कर पीड़ना होता है, तब तेल मिलता है। मक्खन के प्राप्त करने के लिये भी बड़ा प्रयत्न करना होता है। लकड़ियों में से अग्नि प्रकट करने के लिये पसीना बहाना होता है। रगड़ते-रगड़ते प्राण फूलने लगता है, तब अग्नि के दर्शन होते हैं। अतएव प्रभु-दर्शन के लिये जब यत्न प्रारम्भ किया है, तो अब इसे जारी रखो। यदि आरम्भ में कुछ भी प्राप्त नहीं

हुआ, तो भी अधीर न हो जाओ। 'पंचदशी' में ठीक कहा है:—

कालेन परिपच्यन्ते कृपिर्गर्भादयो यथा।

तद्वदात्मविचारोपि शनैः कालेन पच्यते।

"खेती और गर्भ आदि जैसे तुरन्त ही तैयार नहीं हो जाते, इनके पकने में कुछ समय लगता ही है, इसी प्रकार आत्म-विचार भी धीरे—धीरे काल पाकर ही परिपक हुआ करता है।"

प्रयत्न करते रहो और प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा करो। दर्शन अवश्य ही होंगे।

—※—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।
(कठ० अ० १ वल्ली २ मं० २३)

[९]

—※—

कौन दर्शन पाता है ?

जिसकी वृत्तियां सांसारिक विषयों में लिप्त हैं और जिसका मन वैराग्य को प्राप्त नहीं हुआ, ऐसा मनुष्य प्रभु-दर्शन तो एक ओर रहा, वह तो अपने आपको भी नहीं देख सकता। चित्त की वृत्तियां उसे भटकाती फिरती हैं। कभी एक वस्तु में, कभी दूसरे रूप में ले जाती हैं। मन भी अपने ही व्यापार में लगा हुआ उसे आत्मा से विमुख करने में तत्पर रहता है। अतएव वे जन जो, चित्त की वृत्तियों को और मन को अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा अपने वश में नहीं कर पाये हैं; उन्हें प्रभु के दर्शन से वञ्चित रहना पड़ेगा। चित्त और विषय के योग से

ही मनुष्य बन्धन में पड़ता है। योग-दर्शन में सबसे पहला पुरुषार्थ यही बताया है कि चित्त की वृत्तियों को रोको। यह मन जो बेलगाम हो रहा है, इसे लगाम डालो।

कठ-उपनिषद् में बताया गया है कि कौन लोग उसे नहीं पा सकते। ऋषि का कथन है :—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

(कठ ३)

"अब वह जो सदा विज्ञानवान् नहीं होता, और जिसका मन कभी जुड़ा हुआ नहीं होता, (बुद्धि के हाथ में दृढ़ पकड़ा हुआ नहीं) उसके इन्द्रिय वस में नहीं होते हैं। जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वस में नहीं होते ॥५॥

"जो कि ज्ञानवान् नहीं होता और मन वाला नहीं, मन की लगाम जिसके अपने हाथ में नहीं और सदा अपवित्र है, वह उस पद को (उस स्थान को जहाँ पहुँचना है—प्रभु-दर्शन को) नहीं पहुँचता है, अपितु संसार (जन्म मरण के चक्र) को प्राप्त होता है ॥७॥

संसार में कितने ही प्रकार के लोग हैं, इनमें से जो आत्म-बल से वञ्चित हैं, जो प्रमाद और आलस्य में फँसे हुए हैं, जिनकी विरोचन-बुद्धि है, जो केवल इस शरीर ही को सब कुछ समझते हैं और इसी की पूजा में लगे रहते हैं, जिन्होंने यह निश्चय कर रखा है, चाहे जैसे भी हो धन कमाओ और कमाते-कमाते

ही मर जाओ, जिनको इतना भी ज्ञान नहीं कि जो वस्तु बनी है वह एक दिन समाप्त भी हो जायगी, ऐसे लोग न आत्म-दर्शन कर सकते हैं न प्रभु-दर्शन। जिनका व्यवहार दूसरों से क्रूरता और दम्भ, -छल, कपट का है, जिनकी वाणी वश में नहीं, जो ईर्षा, द्वेष की आग में जल रहे हैं, ऐसे लोग भी परमानन्द को नहीं पा सकेंगे। फिर वह मनुष्य जो दुश्चरितों से नहीं हटा, जिस का मन शांत नहीं, वह भी प्रभु-दर्शन का अधिकारी नहीं। जिसे तत्व-ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी वासनायें उसे कहीं की कहीं लिये फिरती हैं, जिसके मन का लय नहीं हुआ, वह भी उसे पा नहीं सकता। जिसको आत्म-विश्वास—अपने आप पर भरोसा नहीं, जो निराश-हताश जीवन व्यतीत कर रहा है, जिस ने खाना पीना, मौज उड़ाना ही जीवन का उद्देश्य बना रखा है, जो जरा-जरा-सी बात पर क्रुद्ध हो उठता है, जिस की जिह्वा उस के वश में नही, जो अभिमान से फुटबाल के ब्लैडर की तरह फूला रहता है, उसे भी प्रभु-दर्शन की आशा छोड़ देनी चाहिये। बाहर की कामनाओं के पीछे भागने वाले अमृत पान नहीं कर सकते।

प्रभु-दर्शन के अमृत का पान वे करेंगे, जिन्होंने आत्म-बल बढ़ाने वाले ब्रह्मचर्य को अपना लिया है, जो अहिंसा और सत्य के मार्ग पर चल पड़े हैं, जिनकी दृष्टि में संसार के पदार्थ और विषय केवल इस लिये हैं कि जीवन-यात्रा को इनके द्वारा सफल बनाया जा सके। महोपनिषद् में लिखा है कि "वासना रूपी जल से पूर्ण इस संसार सागर में जो प्रज्ञा रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे विद्वान् दूसरे पार पहुँच गये हैं। संसार रूपी समुद्र को जानने वाले पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो त्याग करते हैं, न उसकी आकांक्षा ही करते हैं।"

महोपनिषद् अ० ५-१७६) ॥

कठोपनिषद् का कथन है:—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥

(कठ ३-६)

"परन्तु जो सदा विवेक-युक्त बुद्धि वाला और वश में किये हुए मन से सम्पन्न रहता है, उसकी इन्द्रियां सावधान सारथि के अच्छे घोड़ों की भाँति वश में रहती हैं।"

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

(कठ० ३-८)

"परन्तु जो सदा विवेक-शील बुद्धि से युक्त संयत चित्त और पवित्र रहता है, वह तो उस परम पद को प्राप्त हो जाता है, जहाँ से पुनः जन्म नहीं लेता। और कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को यह बतलाया है कि:—

अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥

(गीता ८-८)

"वह चित्त जो योगाभ्यास से युक्त है और (सिवाय परमात्मा के) किसी दूसरे में नहीं जाने वाला है, ऐसे चित्त से ध्यान करता हुआ हे अर्जुन! वह परम, दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।"

जिन पर यह रहस्य खुल चुका है कि वास्तव में तीन ही तत्व सृष्टि में काम कर रहे हैं, एक परमात्मा, दूसरे जीवात्मा और तीसरे प्रकृति, और सृष्टि की रचना इस उद्देश्य के लिये है कि

जीवात्मा सारी वासनाओं, दुःखों और क्लेशों से छूट कर आनन्दघन परमात्मा को पाकर सब लोक-लोकांतरों में, स्वतन्त्रता में, स्वेच्छा से विचरने के योग्य बन जाये, जो यह भी निश्चय कर चुका है कि यह तत्व-ज्ञान वेद के विद्वानों और ब्रह्म-निष्ठ तपस्वियों की संगति से प्राप्त किया जा सकता है, तथा मन को वश में करने का साधन केवल योग्याभ्यास है और कोई नहीं, यह योग्याभ्यास चाहे भक्ति-योग हो या कर्म-योग, ध्यान-योग हो या राज-योग, मन्त्र-योग हो या हठ-योग, ज्ञान-योग हो या नाद-योग, मन तथा दूसरी इन्द्रियों का वशीकरण योग द्वारा ही हो सकता है। इसी प्रकार वासना के क्षय का उपाय, विरोधी वासना का उत्पन्न करना है। यदि भोगेच्छा की अतिस्वल्प वासना के भी आधीन होकर, उस भोग को ग्रहण कर लिया, तो वासना की यह आग तो कभी भी शांत होगी ही नहीं। अग्नि में जितना ईंधन डालते जायेंगे, उतनी ही अधिक वह भड़केगी, कम नहीं होगी। वासना के क्षय का यही साधन है कि वासना में आहुति न डाली जाये। वासना के सम्बन्ध में तो योग-दर्शन ने यह कहा है कि यह अनादि काल से है, तब यह मिटे कैसे ? वासना की यह आग बुझे कैसे ? क्योंकि यही वासना जाति, आयु और भोग के फल दिलाती है। यही वासना मनुष्य को जकड़े रखती है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य की प्रबल इच्छा होती है कि उसका सदा कल्याण हो, मनुष्य ही क्यों, प्रत्येक प्राणी मृत्यु तथा दुःख से बचे रहना चाहता है और जीवन तथा सुख के साथ सदा मिलाप चाहता है। यही इच्छा वासना का कारण बनती है। क्योंकि अपने कल्याण की इच्छा सदा बनी रहती है, इसलिये वासना भी सदा बनी रहती है। ऐसी सदा बनी रहने वाली वासना से छुटकारा कैसे हो ? इसका यही साधन है

कि वासना की इस अग्नि में नई आहुतियां न डाली जायें और वैराग्य की राख से इस आग को दबा दिया जाये। वासनाओं को इन्द्रियों के विषय आहुतियां पहुँचाते हैं और चित्त इन वासनाओं का गोदाम-घर (स्टोर हाउस) बना रहता है। जब इन दोनों चित्त और बाह्य इन्द्रियों की दासता छोड़ दी जायेगी, तो वासना की अग्नि उसी प्रकार शांत हो जायेगी, जैसे उस दीपक का अन्त, जिसकी बत्ती का तेल समाप्त हो गया है। जिसने इस रहस्य को जान लिया उसके पाँचों क्लेश नष्ट हो जायेंगे। वह आत्म-दर्शन से कृतकृत्य हो जायेगा। आत्मा जब प्रकृति से अपने को अत्यन्त पृथक जानकर अपरोक्ष ज्ञान का लाभ करता है, तब प्यास मिट जाती है। उस समय उसका चित्त विवेक मार्ग पर चलने वाला हो जाता है। जो भक्त राग-द्वेष और कुसंस्कारों से रहित हो गया, और जिसने साधना द्वारा इन्द्रिय-मन की अधीनता से अपने आप को छुड़ा लिया, उसी के सामने सत्यस्वरूप प्रगट हो जाता है। जिसने इस सत्य को हृदयंगम कर लिया है कि योग के आठों अङ्गों का अनुष्ठान करते हुए भी यदि चित्त संसार की तृष्णा से उपराम नहीं हुआ, अभी तक इस या उस पदार्थ में राग (भेद) बना हुआ है और वैराग्य की अवस्था प्राप्त नहीं हुई, तो ऐसे वैराग्यशून्य अभ्यासी को भी प्रभु के दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते। अभ्यास के साथ वैराग्य का रंग चढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ अभ्यासी ऐसे देखे गये, जो हठ-योग की क्रियाओं से लम्बी समाधियाँ भी लगाते हैं; परन्तु वैराग्य न होने के कारण, उनके मन अशान्त, असन्तुष्ट और चिन्ताग्रस्त देखे गये हैं। जिस हृदय में अशान्ति और चिन्ता का कूड़ा-कर्कट भरा हुआ है, वहाँ भगवान् अपनी ज्योति प्रकट नहीं करते। कुछ ऐसे भी हैं, जो केवल विद्या (जो अविद्या है) के अभिमान में पड़े हैं। इनके सम्बन्ध में

मुण्डक-उपनिषद् ने लिखा है:—

"अविद्या के अन्दर ही रहकर जो अपने आप धीर बने हुए हैं, और अपने आपको पण्डित मान रहे हैं, वे मूढ़-जन ठोकरें खाते हुए चक्कर लगाते हैं, उन अन्धों की तरह जिनका कि चलाने वाला भी अन्धा है।"

(मुण्डक १–२–८)

यदि आत्म-दर्शन और प्रभु-दर्शन की इच्छा है, तो इसके लिये आज ही से तैयारी करनी चाहिये। समय तो बीतता चला जा रहा है। आयु बहुत थोड़ी है। तब एक क्षण भी आत्म-दर्शन के प्रयत्न के बिना खोना भारी हानि है। इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिये इन बातों की अत्यन्त आवश्यकता है:—

(१) प्रभु-दर्शन के लिये 'दृढ़-संकल्प' करो और जब इस मार्ग पर चल पड़ो, तो फिर कष्ट आये या क्लेश, दुख हों या सुख, चलते ही चलो। यहाँ तक कि:—

आंधी चले पत्थर पड़ें, धरती फटे बिजली गिरे।
बरसे प्रलय की आग, गरजे काल बलि हमला करे॥
हे वीर! साधन-मार्ग पर, कसकर कमर आगे बढ़ो।
मन के खुले मैदान में, होकर खड़े खुल कर लड़ो॥

मत समझो कि आप में शक्ति नहीं। आप तो शक्ति के भण्डार हैं। आपके संकल्प में वह बल है कि इसी से आप सृष्टि रच सकते हैं और इसी से प्रलय कर सकते हैं। तब इस मन की क्या मजाल, इन वासनाओं की क्या सामर्थ्य कि आपको आपने लक्ष्य तक पहुँचने से रोक सकें।

(२) इस मार्ग पर चलने के लिये शरीर बड़ी सहायता देता

है। इसे निर्बल अथवा रोगी न होने दीजिये। पौष्टिक, सात्विक और मिताहार से इसे स्वस्थ बनाये रखिये।

(३) स्वस्थ शरीर द्वारा अब योग के आठों अंगों का अनुष्ठान कीजिये।

(४) इस अनुष्ठान की विधि किसी अनुभवी ब्रह्मनिष्ठ गुरु से सीख लीजिये।

(५) इन साधनों के द्वारा अभ्यास करते हुए, जब आपका मन तथा इन्द्रियां वश में हो जायेंगे और वैराग्य की तीव्रता से चित्त का सम्बन्ध बाह्य वासनाओं से टूट जायेगा, तब आप एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करने लगेंगे।

(६) वैराग्य उत्पन्न करने के लिये सृष्टि की बनावट का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना भी उपयुक्त है।

(७) सृष्टि के सारे वैभव को देख कर परमात्मा की बड़ी भारी सत्ता को अनुभव करने से मन और अन्तःकरण में आस्तिकता की जोत जग उठती है और चित चकोर भवसागर से उड़कर अनन्त, पारावार-रहित प्रभु-सिंधु के तट पर अपना नित्य निवास बनाने के लिये तैयार हो जाता है और गाता है:—

चकई री चल चरन सरोवर, जहं नहि प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नाँहि कबहूँ सो सायर सुख जोग॥
जेहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल विमल सुकृत जल पीजै।
सो सर छांड़ कुबुद्धि विहंगम इहां रहे कहा कीजै॥

(८) तब आत्मा का प्रकृति से क्या सम्बन्ध है? परमात्मा का इस जगत् के बनाने का प्रयोजन क्या है? यह समझ आने लगती है और स्पष्ट मालूम हो जाता है कि यह बात सारी रचना

केवल इस लिये है कि आत्मा अपने शुभ-अशुभ भोग, भोगे, और सांसारिक दुःख-सुख से छुटकर आत्म-दर्शन पाकर आनन्द-मग्न हो जावे।

(९) दुनिया को न कोई छोड़ सकता है, न दुनिया किसी को छोड़ती है। प्रयत्न यह होना चाहिये कि दुनिया के सारे व्यवहार करते हुए अपनी वृत्ति को इसके जाल में फंसने न दिया जाये। तुलसी के कथनानुसार—

तुलसी जग में यों रहो, ज्यों रसना मुख माहिं।
खाती है घी तेल नित्य, फिर भी चिकनी नाहिं॥

इसी प्रकार पद्म-पुष्प का भी उदाहरण दिया जा जा सकता है:—

जिमि जल भीतर पद्म है, जल में डूबत नाय।
ज्ञानी जग में रहत भी, लिप्तमान हो नाय॥

एक उर्दू कवि के इस कथन में तत्त्व है कि—

दुनिया में हूँ दुनिया का तलबगार नहीं हूँ।
बाज़ार से गुज़रा हूँ, खरीदार नहीं हूँ॥

(१०) इस मार्ग के यात्री में एक और भावना भी आ जाती है, वह यह कि जब प्रभु-दर्शन इस मनुष्य देह ही में हो सकते हैं और यही मानव शरीर ब्रह्मपुरी या प्यारे प्रियतम प्रभु का यही मन्दिर है, तो फिर वह यात्री संसार के सारे मनुष्यों को प्रभु-मन्दिर ही समझने लगता है। तब क्या वह इन मन्दिरों से घृणा, द्वेष या ईर्षा कर सकेगा? कदापि नहीं। अपितु वह तो इन सब की रक्षा, सेवा करेगा और इनके कल्याण के लिये तत्पर रहेगा। इसी का नाम परोपकार है।

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में भक्ति के साधनों में परोपकार को सत्य भाषण के साथ ही स्थान दिया है । शेष सभी साधनों को पीछे रखा है। लोकसेवा से आत्मदर्शी शीघ्र ही प्रभु-दर्शन का अधिकारी बनता है। कवि ने भी कहा है:—

तरुवर फलें न आप को, नदी न उपजे नीर ।
परमार्थ के कारणे, सन्तन धरा शरीर ॥

(११) जब यह सब कुछ हो चुका है, तो फिर यह अवस्था आने लगती है कि जिस दृढ़-सङ्कल्प ने यहां तक पहुंचाया, उसी प्रकार के संकल्पों को समाप्त करने का समय आ गया; क्योंकि संकल्प-विकल्पों ही ने दुनिया बनाई थी। अब इस 'दुनिया' को समाप्त करने के लिये संकल्प-विकल्प की दुनिया समाप्त करने की रुचि हो जाती है। चित्त में संकल्प की क्रिया रोक दी जाये, कोई भावना आने ही न दी जाये, तब भावना का अभाव हो जाने से सकल्प स्वयं नष्ट हो जाता है । परन्तु यह अवस्था किसी किसी के ही भाग्य में होती है।

—❀—

[१०]

साधक की पुकार

—:o:—

तेरे द्वार पर बैठे-बैठे कितना समय बीत गया! क्या मेरी टेर अभी सुनी नहीं गई। सुनते चले आ रहे थे कि यदि भक्त एक पग आगे बढ़ाये तो भगवान् दो पग आगे बढ़ कर गोदी में ले लेता है। परन्तु यह क्या? मैं तो चलते-चलते थक गया। अब तो पांव में अधिक चलने की शक्ति नहीं। इस साधक यात्री के नयनों से बहता नीर भी तुमने नहीं देखा क्या?

जगत् जननी! अपने नन्हे-से बालक का रुदन तो कोई भी मां सहन नहीं कर सकती। शिशु का रुदन तो पाषाण-हृदय को भी द्रवित कर देता है। फिर मेरा रोना बिलखना क्या माता का हृदय भी पिघला नहीं सकेगा? मां, अब तो रोया भी नहीं जाता! आंसू भी सूख गये हैं। तुम्हें कैसे बताऊं कि तेरे दर्शन के बिना मेरी क्या अवस्था हो रही है।

सुना था, तू एक-एक हृदय की एक-एक भावना को जानता है। परन्तु मेरे हृदय की व्यथा क्या तुम नहीं जान सके? सब जानने वाले! मेरी इस अवस्था को देख कर क्या तुझे दया नहीं आती? यह ठीक है, तेरे निकट पहुँचने के लिये जिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक है, मैं उन में पूरे नम्बर नहीं ले पाया। यह भी ठीक है, वे तप और त्याग की भूमियां भी मैं प्राप्त नहीं

कर सका, जो तेरे दर्शन से पूर्व प्राप्त कर लेनी चाहियें। यह भी सत्य है, यह शरीर उतना दृढ़ आसन लगाने और योग की सारी क्रियायें करने के भी योग्य नहीं। यह भी सत्य है, मन-मन्दिर उतना स्वच्छ नहीं, जितना तेरे स्वागत के लिये होना चाहिये।

हां महाराज! यह भी ठीक है, अभी सांसारिक बासनायें भी पीछा नहीं छोड़ती। यह मन लाख यत्न करने पर भी इतना नटखट बना हुआ है कि नित्य नये खेलों में उलझाये रखता है। यह भी ठीक है! इन इन्द्रियों के घोड़ों को वश में करते-करते मैं हार चुका हूँ। ये कभी इस गढ़े में और कभी उस गढ़े में गिरा ही देते हैं। महाराज! क्या कहूँ, मेरी अवस्था कितनी दयनीय हो चुकी है; परन्तु हे दयालु! क्या तूने ही अपने प्यारे योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा यह सन्देश नहीं भेजा था कि :--

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यगव्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९-३०, ३१)

"यदि महादुराचारी भी अनन्य-भक्त होकर मुझे भजता है, तो उस को भला ही जानना चाहिये; क्योंकि उस ने भला निश्चय किया है। वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है और सदा की शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! निश्चय जान, मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता है।"

और मैं तो तेरी चौखट पर कब से सिर रखे हूं। तुझे ही

पुकार रहा हूँ। कब तक मेरी पुकार न सुनोगे? मैं भी तेरा ही तो पुत्र हूँ। नहीं उठूंगा तेरे द्वार से, चाहे जो हो। ले प्यारे! अब तेरी ही पवित्र वाणी द्वार तुझे पुकारता हूँ :—

ओ३म्। अर्वावतो न आगहि परावतश्च वृत्रहन्।
इमा जुषस्व नो गिरः॥

(ऋ० ३—४०—८)

"सुनो, मेरी टेर को सुनो। पास हो, चाहे दूर हो, जहाँ भी हो, वहीं से आओ।"

महाराज! कृपा आज करो या कल, आप की कृपा के बिना मेरे मन की प्यास बुझ नहीं सकती। यदि मैं वेद-पाठी भी बन जाऊँ, योग के सारे अंगों का भी अनुष्ठान कर लूं, फिर भी तो महाराज की कृपा के बिना मेरा उद्धार नहीं हो सकता है। आप ही के ऋषि ने तो यह घोषणा की थी कि :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष,
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

(मुण्ड० ३—२—३)

"यह आत्मा न वेद से पाया जा सकता है, न मेधा से। न बहुत सुनने से, जिसको यह आप चुन लेता है, वही इसे पा सकता है, इसी के लिये यह आत्मा अपना स्वरूप खोलता है।"

तो महाराज! यह चुनने का काम तो स्वयं आप ही ने करना है। वेद के अन्दर तो आप यह कह ही चुके हैं कि जिस किसी को

आप चाहते हैं, उसे आप मेधावी, तेजस्वी सब कुछ बना देते हैं।

ओ३म् । अहमेव स्वयमिदं वदामि ।
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि,
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

(ऋ० १०—१२५—५)

"देवताओं तथा मनुष्यों का मैं स्वयं प्यारा वचन कहती हूँ जिस-जिस से मैं प्यार करती हूँ, उस को तेजस्वी, विद्वान्, ऋषि और मेधावी बना देती हूँ ॥"

तब मैं इधर उधर क्यों भटकूं ? अब तो मैं तेरी ही प्रतीक्षा में बैठा हूँ :—

ओ३म् । स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

(ऋ० १—१—६)

"हे सुन्दरों से भी सुन्दर ! आओ, हमें दर्शन दो, ताकि हमारा कल्याण हो । आप हमारे पिता हो और हम आपके पुत्र हैं ।"

ओ३म् । श्रुधीहवमिन्द्र मा रिषण्यः,
स्याम ते दावने वसूना ॥
इमा हि त्वामूर्जो वर्धयन्ति,
वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः ॥

(ऋ० २—११—१

"हे प्यारे प्रभु ! पुकार को सुनो । उपेक्षा छोड़ो । हमें (भक्ति में) धनी बनाओ । हम तुम्हारी उत्तम भक्ति (के रस को तुम्हारी ओर) नदियों के समान बहाते हैं ।"

ओ३म् । प्रते नावं न समने वचस्युवं,
ब्रह्मणा यामि सवनेषु दाधृषिः ।
कुविन्नो अस्य वचसो निबोधिषु,
दिन्द्रमुत्सं न वसुनः सिचामहे ॥
(ऋ० २—१६—७)

"अब हम तेरे भक्ति रस में मस्त होकर तेरी नैय्या पर चढ़ बैठे हैं। हमें टेर सुनाने की वह शक्ति दे दे, जिसे तू भी सुने बिना न रह सके। तू हीं वह ऐश्वर्य का स्रोत है, जहाँ से पीते-पीते हम कभी भी न थकेंगे।"

ओ३म् । तिष्ठा सु कं मघवन्मा परागाः,
सोमस्य नुत्वा सुषुतस्य यक्षि ।
पितु पुत्रः सिचमारभेत
इंद्रस्वादिष्ठया गिरा शचीवः ॥
(ऋ० ३—५३—२)

"प्रभो ! ठहरो, बैठो, कहाँ जाते । हो मैं अपने भक्ति रस में कमी नहीं होने दूँगा । जैसे पुत्र पिता का पल्ला पकड़ लेता है, वैसे ही मैं तोतली बोली (बोलता हुआ) तुम्हारी शरण में आता हूँ ।"

ओ३म् । नत्वा वृहन्ते अद्रयो वरन्त इन्द्रवीडवः ।
यद्दित्सासि स्तुवते मावते वसु नकिष्टदा मिनाति ते ॥
(ऋ०८—८८—३)

"महाराज! तुम्हारे आगे बड़ी-छोटी कोई रुकावट नहीं हो सकती। जब तुम अपने भक्तों को निहाल करना चाहते हो, तो किसी की क्या मजाल है कि बीच में खड़ा हो सके।"

ओ३म्। उत स्वया तन्वा सं वदे,
तत्कदा नु ऽन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत,
कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥

(ऋ० ७—८६—२)

मैं अपने अन्दर सोचता हूँ कि मैं तुम्हारे अन्दर लीन हो सकूंगा? तुम कब मेरी आराधना को स्वीकार करोगे? कब मेरा मन इतना अच्छा हो जायेगा कि मैं तुम्हारी कृपा का पात्र बन जाऊंगा॥"

ओ३म्। वनश्वानो मम दूतास इन्द्रं,
स्तोमाश्चरन्ति सुमती रियानाः।
हृदि स्पृशो मनसो वच्यमाना,
अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिदाः॥

(ऋ० १०—४७—७)

"भक्ति से भरे हुए मेरे गीत प्यारे के पास दूत बन कर जा रहे हैं, ताकि वह मुझपर मेहरबान हो जाये। मेरे हृदय की व्यथा बतलाने वाले गीत उस प्यारे इन्द्र के हृदय को उकसा देंगे, तब इन्द्र हमें शक्ति और भक्ति वाला धन देंगे।"

ओ३म्। कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे।

योऽन्वेम शन्तमं हृदे ॥

(ऋ० १—४३—१)

"क्या हम रुद्र के लिये उसके हृदय को प्यारा लगने वाला गीत गा सकेंगे ? यदि गा सकेंगे, तो क्या वह दाता इसे सुनेगा ? जो ज्ञानी और बलवान् है !"

ओ३म् । इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृलय ।

त्वामवस्युराचके । ऋ० १—२५—१९

"तपे मन को शान्त करने वाले ! मेरी इस टेर को सुन । आज मेरे ऊपर दया कर दे, तुझे पुकार रहा हूँ । कर मेरी सहायता ।"

ओ३म् । सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम् ।

होतेव क्षदसे प्रियम् ॥ (ऋ० १—२५—१७)

"आओ न प्यारे ! एक बार आओ । हम बात चीत करें । कितना सुन्दर मधु आप के लिये तैयार किया है । होता बनकर इसको स्वीकार करो । यह आप को भी तो प्यारा है ।"

ओ३म् । कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे ।

मृलीकायोरुचक्षसम् ॥

(ऋ० १—२५— ५)

"कब हम अपने ऊपर कृपा के लिये उस प्यारे प्रभु को अपनी ओर झुकाएंगे, जिस की दृष्टि सब पर फैली हुई है और जो अखण्ड सम्पदा वाला है ।"

ओ३म् । यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।

मिनीमसि द्यवि द्यवि ॥ १ ॥

ओ३म् । मा नो वधाय हत्नवे जिहीलानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥ २ ॥

(ऋ० १—२५-१,२)

"सब कुछ जानने वाले प्यारे भगवान् ! हम दिन-प्रति दिन जिस किसी तेरे नियम को तोड़ते हैं, जैसा कि सभी लोग तोड़ते हैं ॥१॥ मत हमें शत्रु की मार देनेवाली चोट का निशाना बना। हम तेरे क्रोध का निशाना न बनें।"

ओ३म् । सखीयतामविता बोधि सखा
गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः ।
वयं ह्या ते चकृमा सबाध
आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र ॥

(ऋ० ४-१७-१८)

"मीत का मीत तू है प्रभु !
रक्षक भी तू है।
स्तोत्र गाने वाले को उत्तम जीवन का दान देने वाला तू है।
तू ही कृपा कर !
हमारा मंगल कर !
हम धर्म के अनुसार किये हुए अपने सारे कर्म को अपने सारे जीवन को।
तेरे चरणों में अर्पित करते हैं।"

ओ३म् । स्तुत इन्द्रो मघवा युद्ध वृत्रा
रीण्येको अप्रतीनि हन्ति ।
अस्य प्रियो जरिता यस्य शर्म

नकि देवा वारयन्ते न मर्ताः ॥

(ऋ० ४—१७—१६)

"जो तेरी स्तुति करते हैं प्रभु ! उनके तू सभी पाप नष्ट कर देता है।

वे सूक्ष्म पाप भी जो तेरे भक्त को दिखाई नहीं देते।

यह तेरी अनन्त कृपा है !

जो तुझे प्यार करते हैं, प्रभु ! उनके हृदय में तेरा आनन्द समाया रहता है।

हां—तेरा आनन्द !

यह तेरा अनन्त प्यार है !

और तेरी आज्ञा को प्रभु ! कोई भी टाल नहीं सकता—

न विद्वान् न अविद्वान् !

यह तेरी अनन्त शक्ति है !"

शक्ति के भण्डार ! मैं तो अल्पज्ञ हूं। तू तो सर्वज्ञ है। मुझ में इतनी शक्ति कहां ? कि तेरी सारी परीक्षाओं में पूरा उतरूं।

मुझ में तो त्रुटियां रह ही जाती हैं। अपराध हो ही जाते हैं। क्या करूं ? न चाहते हुए भी पग फिसल ही जाते हैं।

मैं पतित हूं, तू तो पतित-पावन है।

सुना तो यही है। भक्त तुलसीदास के शब्दों में भगवान् मैं भी यही कहता हूं:—

मैं हरि पतित पावन सुने।

हम पतित तुम पतित-पावन, दोउ बानक बने।

जाऊँ कहां तजि चरन तिहारे।

काको नाम पतित-पावन है, केहि जगदीन प्यारे।

तू यदि सहारा देगा, तब तो तेरे भव-सागर से पार उतर सकूंगा। तेरी ही दया, तेरी ही कृपा से मेरा उद्धार हो सकता है। तुझे पाने वाले ऋषि भी यही कहते हैं। तब प्यारे! अब कब तक प्रतीक्षा में रखोगे?

नाथ! देख नहीं रहे हो क्या? अब तो शरीर भी जीर्ण हो रहा है। महाराज! शरीर की एक-एक शक्ति ने भी मुंह फेरना शुरू कर दिया है। सारे ही साथी साथ छोड़ते चले जा रहे हैं और यह आत्मा तेरे बिना अकेली पड़ी यहां घबरा रही है। प्यारे, तेरे बिना कौन सुधि लेने वाला है। मलिक जयनारायण के शब्दों में अपनी कामना प्रगट करता हूँ:—

सागर तट पर बैठी हूँ मैं कब से नाथ! अकेली।
चले गये मेरे जितने थे बान्धव, सखी, सहेली॥
तरल तरंगमयी लहराती भव-वारिधि जल धारा।
दूर गगन में चमक रहा है मार्ग प्रदर्शक तारा॥
प्राणेश्वर! करुणानिधि! हूँ मैं तेरे चरणों की दासी।
तेरे चरण-कमल-रज की हूं, देव सदा मैं प्यासी॥
हूँ मैं कुटिया की भिखारिणी! तुम हो त्रिभुवन के स्वामी
मेरे हृदयगत भावों के प्रभु! तुम हो अन्तर्यामी॥
जीवन नौका जीर्ण पड़ी है, उठती प्रबल बयार।
कैसे पहुँचेगी यह तेरे स्वर्ण--धाम के द्वार॥१॥
स्वामी मेरे! चलो मुझे ले, उस अज्ञात सिंधु के पार।
जहां न होगी अंतस्तल में माया वीणा की झंकार॥

तेरे पद-जल से प्रक्षालित हो जावे जीवन मेरा।
आत्मोत्सर्ग करूं भगवत्सेवा में हो यह व्रत मेरा।

हां, ठीक कहा योग-दर्शन के भाष्यकर्ता श्री व्यास जी ने कि-"भक्ति विशेष से झुका हुआ ईश्वर अपने शुभ संकल्प से भक्त पर अनुग्रह करता है।"

और अटल सत्य है कि—

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने

"शोभा-निकेतन भगवान् के प्रसन्न होने पर क्या अलभ्य रहता है?"

सुन ली टेर प्रभु ने। कब तक न सुनता। आज सुनता कि कल, उसे सुननी ही थी, टेर मेरी। अहा! अब तो चारों ओर ज्योति है। अन्धकार कहां चला गया? अब अन्धकार की कहीं परछाईं भी नहीं।

ओ३म्। उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(यजु० २०-२१)

"अन्धकार से परे, पाप से परे, सबसे ऊंचे, सुखमय देव को (ध्यान के बल से) साक्षात् करते हुए हम ने उस देवों के देव प्रकाशमय उत्तम ज्योति को पा लिया है।"

ओ३म यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि॥
(ऋ० ९—११३—११)

"जहां आनन्द, मोद, प्रमोद की स्थिति है, जहां मन की सारी

कामनायें पूरी होती हैं, वहां मुझे अमृत बना।"

ओ३म् । यत्रनुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि ॥
(ऋ० ६—११३—६)

'जहां द्यौ के तीनों सुखमय चमकते हुए स्थानों में स्वतन्त्रता से विचरना होता है जहां लोक ज्योति पूर्ण हैं, वहां मुझे अमृत बना।"

हां हां, प्रभु की कृपा होते ही मैं वहां पहुंच गया हूँ, जहां आनन्द के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। वहां न कभी अस्त होता है, न कभी उदय।

" नैव तत्र निलोमश्च नोदिया य कदाचन ।"
(छा० ३-११)

अब तो जैसे अनंत दिन चढ़ गया है। अब तम कहां ? अब शोक कहां ? अब रुदन कहां ? अब कष्ट-क्लेश कहां ? वे तो सब के सब प्रभु कृपा का सूर्य उदय होते ही भाग गये। अब तो भय भी कोई नहीं रहा।

आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।
(तै० २-१)

मुझे चारों ओर से आवाजें आ रही हैं। अन्तरिक्ष कह रहा है, "प्रभु के प्यारे ! मैंने तुझे अभय कर दिया है।" द्यौ और पृथिवी भी पुकार रहे हैं, "तुम अभय हो गये हो। आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, सब ओर से।" मुझे अभय दान मिल गया। प्यारी माता की गोदी में पहुंच कर शिशु को काहे का भय ? अब तो माता ने पवित्र स्तनों से अमृत पिला दिया। अब और कुछ पीने की कामना नहीं रही:—

कबीरा प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय।
रोम-रोम में रमि रहा—और अमल क्या खाय।
सोऊं तो सुपने मिलैं, जागूं तो मन माहिं।
लोचन राता सुधि हरि, बिछुरत कबहूँ नाहिं॥

बस अब आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व का मिलाप हो गया है। प्रेमी और प्रियतम के इस मिलाप के पश्चात् न वाणी, न नेत्र, न कोई और इन्द्रिय कुछ कह, सुन या देख सकते हैं। यहां पहुंच कर गूंगे की रसना के सदृश अमीचन्द कैसे बताये कि क्या आनन्द प्राप्त किया।

ओ३म् तत्सत्। ओ३म् तत्सत् ओ३म् तत्सत्।

:—ओ३म्:—:

संपश्येद् गतिमस्याऽन्तरात्मा । सूक्ष्मतां चाऽन्वेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥ (मनु)

अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

(याज्ञवल्क्याय)

अनुभव तथा विज्ञान

[११]

उपासना के मार्ग पर चलते हुए मेरे अनुभव में जो बातें आई हैं अथवा दूसरे साधक महानुभावों तथा योगी महात्माओं से जो अनुभव ज्ञात हुआ है, उन्हें साधकों के लाभार्थ यहां दिया जाता है। गंगोत्तरी में योग-निकेतन की कुटिया में चार मास निरन्तर निवास कर के, योगीराज ब्रह्मचारी श्री स्वामी व्यासदेव जी महारज से बहुत से विशेष अनुभव प्राप्त हुए, जिनको मैंने स्वयं भी प्रत्यक्ष किया। योग का यह विज्ञान और अनुभव अत्यन्त उपयोगी है।

(१) गायत्री मंत्र के अर्थों तथा भावों को पूर्ण रूपेण हृदयंगम करके पूरे नियम तथा पवित्रता से यदि एक करोड़ पच्चीस लाख गायत्री मंत्र का जप किया जाये, तो हृदय की भूमि भक्ति का बीज बोने के योग्य तैयार हो जाती है।

(२) इसके पश्चात् 'ओम् भूर्भुवः स्वः' इस का एक करोड़ पच्चीस लाख बार जप किया जाये, तो विशेष भक्ति हृदय में जागृत हो जाती है।

(३) इसके पश्चात् केवल "ओ३म्" का ध्यान और "ओ३म्" ही का मानसिक जप सवा करोड़ किया जाये, तो निस्सन्देह मन को एकाग्रता प्राप्त होती है और ज्योति-दर्शन होता है।

(४) अपने-अपने गृह में प्रभु-भजन, योगाभ्यास तथा जप इत्यादि करने के अतिरिक्त यदि वर्ष में एक-दो बार सर्वथा एकांत और निर्जन वन या स्थान में जाकर और अपने आप को प्रभु के अर्पण कर के, प्रभु-भजन किया जाये, तो सफलता शीघ्र प्राप्त होती है।

(५) परन्तु जो लोग अभी काम वासना पर विजय प्राप्त नहीं कर सके, उन्हें एकांत वास लाभ नहीं पहुँचाता; अपितु एकांत में उनकी काम वासना अधिक प्रबल होकर, उन्हें अधिक कुमार्ग पर ले जाती है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति को चाहिये कि वह किसी अनुभवी विद्वान् वीतराग महानुभाव के सत्संग में रहकर साधना करें। काम-वासना के दमन के लिये आवश्यक है कि नेत्र द्वारा, जिस देवी को देखे, उसमें माता की भावना करे और उसे उपास्य रूप समझे और देवियां भी पर-पुरुष को पिता रूप समझें।

(६) वर्ष में एक मास या दो सप्ताह या प्रति सप्ताह एक दिन सर्वथा मौन रहने से मानसिक शक्ति बढ़ती है। आत्मा में बल आता है और वाणी में आकर्षण उत्पन्न होता है।

(७) कभी-कभी उपवास करने से पेट को विश्राम मिलता है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।

(८) जब साधक पहले पहल ध्यान में बैठता है, तो मन उसके सामने नाना प्रकार के दृश्य लाता है, और किसी-किसी समय

तो वर्षों की भूली हुई बातें भी ला खड़ीं करता है, जिस से हृदय में अधिक अशान्ति होने लगती है। ऐसी अवस्था में 'ओम्' का जप और रेचक, पूरक प्राणायाम (लम्बे-लम्बे श्वास) बहुत लाभ देते हैं और मन की उस रची हुई दुनियां का अन्त कर देते हैं।

(९) लगभग साढ़े तीन घण्टे एक आसन में विना कष्ट के और विना हिले बैठने से मन की चंचलता क्षीण होने लगती है। ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखते हैं :—

"जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती हैं।"

(१०) जब शरीर तथा मन में तमोगुण प्रधान हो तो, भजन अथवा ध्यान में निद्रा आने लगती है, ऐसी अवस्था में नेत्र खुले रख कर ऊंचे स्वर से 'ओम्' का जप करना चाहिये, और चन्द्र स्वर चलानी चाहिये।

(११) जब किसी प्रकार से भी मन की चंचलता दूर न होती हो, और कोई चिन्ता अथवा दाह सता रहा हो, तो एकान्त स्थान में 'ओम्' गान करना चाहिये, और पूरे बल से ऊँची स्वर करके 'ओ३म्' का लम्बा उच्चारण करना चाहिये। फिर मुख में गुन-गुनाते हुए ओम् का जप आरम्भ कर देना चाहिये।

(१२) जब ध्यान का अभ्यास करने के लिये बैठें, तो शरीर को थोड़ा ढीला रखें—तब नेत्र मूंद कर एक विशाल नीले आकाश का ध्यान करें और अपने सूक्ष्म शरीर को उस में ले जायँ—इस समय यदि कोई और संकल्प या विचार आने लगे, तो उसे मन से तत्काल निकाल दें—हृदय आकाश सर्वथा संकल्प शून्य हो जाये—अब हृदयाकाश को समष्टि आकाश में मिला दें—ऐसा मिलाप होते ही केवल सूक्ष्म-शरीर ही दिव्य-नेत्रों से दिखलाई देगा और कुछ नहीं।

(१२) अब योगीराज स्वामी व्यास देवजी के योग के अनुभव पढ़िये—

आसन बढ़ाने की विधि

यम-नियमों का वर्णन तो पहले ही विस्तार से हो चुका है। अब आगे के योग-अंगों का वर्णन करते हैं। आसन के बढ़ाने का क्रम यह है कि अभ्यासी जिस आसन पर सुख-पूर्वक बैठ सके, उस पर बैठ कर पहिले दिन १५ मिनट, आधा घंटा या एक घंटा बैठे, जिस में विशेष थकावट न हो। दूसरे दिन आसन में दो या चार या पाँच मिनट क्रम से प्रति दिन बढ़ाता चला जाये। यदि दस-बीस दिन के पश्चात् वह दो घंटे की स्थिति पर जाकर रुक जाये, या थकावट होने लगे, तो वह फिर कुछ दिन तक उतनी देर तक के आसन का अभ्यास करता रहे। जब अभ्यास करते-करते आसन की थकावट या शिथिलता दूर हो जाये, तो पुनः क्रम से एक, दो, चार या पाँच मिनट प्रति दिन बढ़ाना शुरू कर दे। इस क्रम से घंटे ही नहीं, अपितु कई-कई दिन का आसन भी स्थिर हो सकता है। यदि एक अभ्यासी साढ़े तीन घंटे, या छः घंटे या इससे भी अधिक आसन को बढ़ाना चाहता है, तो पहले दिन वह साढ़े तीन घंटे के मध्य में एक दो या चार बार एक मिनट के लिये उठ कर आसन की थकावट को दूर कर ले। कुछ दिन या एक दो मास वह ऐसा अभ्यास करता रहे। फिर चार बार उठने की बजाये दो या तीन बार उठा करे। फिर तीसरे महीने में एक बार और कम कर दे। चौथे मास में उसका आसन साढ़े तीन या छः घंटे का हो जायेगा। आसन ध्यान और समाधि में अत्यन्त उपयोगी है। जिसका आसन स्थिर नहीं होगा, उसको ध्यान-समाधि में स्थिरता नहीं हो सकती। आसन व्यायाम के उद्देश्य के लिये योग का अंग नहीं बतलाया गया, अपितु यह धारणा, ध्यान और समाधि

के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इस लिये इसका अनुष्ठान आवश्यक है।

(११) प्राणायाम

आसन के पश्चात् प्राणायाम के सम्बन्ध में कुछ अनुभव लिखते हैं। जिस का मन जप तथा ध्यान में न लगता हो, उसके लिये प्राणायाम चित्त की स्थिरता के लिये बहुत लाभदायक है; क्योंकि मानसिक-जप तथा ध्यान प्राणायाम की अपेक्षा सूक्ष्म विषय है, और प्राणायाम स्थूल व्यापार है, इसीलिये मन सूक्ष्म से हट कर स्थूल के व्यापार में स्थिर हो जाता है। अभ्यासी को देखना चाहिये कि किस ऋतु में, कौन-से प्राणायाम उसके लिये उपयोगी हैं? या किस प्रकृति वाले को कौन-सा प्राणायाम लाभदायक है। योग-दर्शन के सिद्धान्त से प्राणायाम चार ही प्रकार का है, परन्तु दूसरे आचार्यों के सिद्धान्त में प्राणायाम के सैंकड़ों प्रकार के भेद हैं।

जिस मनुष्य की पित्त प्रकृति है, उसके लिये भस्त्रिका प्राणायाम हानिकर है। क्योंकि भस्त्रिका पित्त को प्रधान करता है और कफ एवं वात को शान्त करता है। शीतली प्राणायाम पित्त को शान्त करने वाला है। पूरक उष्णता तथा पित्त को पैदा करता है। इसी प्रकार पूरक करके आभ्यन्तर-कुम्भक भी या स्तम्भ-वृत्ति भी पित्त को प्रधान बनाते हैं। अतएव कफ और वात प्रकृति वालों के लिये विशेष उपयोगी हैं। परन्तु रेचक प्राणायाम सब दोषों को शान्त करता है। प्रत्येक ऋतु में किया जा सकता है और प्रत्येक प्रकृति वाले के लिये उपयोगी है, चाहे वात हो या पित्त, अथवा कफ। अभ्यासी को अपनी प्रकृति, देश और काल को देखकर प्राणायाम करना चाहिये। यदि किसी अनुभवी महापुरुष से सीख कर किया जाये, तो प्राणायाम शरीर तथा मन

के लिये बड़ा उपयोगी होता है; अन्यथा अनेक रोगों का कारण बन जाता है।

यह बात भी ध्यान में रहनी चाहिये कि प्राणायाम से मन सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता; क्योंकि जब अग्निप्रदीप्त पूरक प्राणायाम को किया जाता है, तो उससे नाड़ी की गति और हृदय की हरकत भी कुछ समय के लिये बन्द हो जाती है, परन्तु मन की क्रिया का अभाव नहीं होता। उस काल में एक तो प्राणायाम के व्यापार का भी ज्ञान रहता है (कि कितनी देर प्राण का निरोध करना है, या किया है) यह सारा व्यापार मन की चेष्टा के बिना नहीं हो सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि मन अन्य विषयों में नहीं जाता। प्राणायाम के व्यापार में ही लगा रहता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि प्राणायाम मन को एकाग्र करने में सहकारी होता है और विषयों से वृत्ति हटाने में भी उपयोगी है। शरीर और मन में बल पराक्रम शक्ति पैदा करता है और निरोध की ओर भी ले जाता है; परन्तु मन की क्रिया या गति का सर्वथा अभाव नहीं कर सकता। मन तो निष्क्रिय असम्प्रज्ञात समाधि में जाकर ही होगा।

(१२) प्राणायाम बढ़ाने का क्रम

पहले दिन रेचक या पूरक या कुम्भक, जो भी प्राणायाम करना हो, और जो विधिपूवक गुरुजनों से सीख लिया हो, प्रथम उसको अंदर या बाहिर दस सैकण्ड, पन्द्रह बीस सैकण्ड या आधा अथवा एक मिनट, जो सुखपूर्वक रोका जा सके रोके। दूसरे दिन दो, तीन या पाँच सैकण्ड के हिसाब से बढ़ाना शुरू करे। इस प्रकार बढ़ाते बढ़ाते कई मिनट तक प्राण का निरोध किया जा सकता है। यदि केवल मन को ही शान्त, समाहित एवं वृत्ति-रहित करना हो, तो

किसी मंत्र इत्यादि के जप की आवश्यकता नहीं। यदि भगवान् 'ओ३म्' को लक्ष्य में रखकर प्राणायाम करना हो, तब उस के परम-पावन मुख्य मन्त्र प्रणव 'ओ३म्' का जप मन से करता रहे।

यह प्राणायाम शरीर को निरोग और मन को समाहित करने में अत्यन्त ही सहकारी होता है। इसके सम्बन्ध में यह श्लोक है।

प्राणायामात् पुष्टि गात्रस्य वुद्धितेजो-यशोबलम्।
प्रवर्धन्ते मनुष्यस्य तस्मात् प्राणायाममाचरेत्॥

"प्राणायाम से शरीर की पुष्टि होती है। वुद्धि, तेज, यश और बल वृद्धि को प्राप्त होते हैं, इसीलिये प्राणायाम अवश्य करना चाहिये।"

(१३) प्रत्याहार की सिद्धि

प्रत्याहार के विषय में पहले भी लिखा जा चुका है। वैसे तो तीन मिनट के निरोध में प्राणायाम की सिद्धि मानी जाती है और दस मिनट तक प्राण का निरोध हो जानेसे मन तथा दस इन्द्रियोंके विषयों से मन को हटाकर मन को अपने स्वरूप में स्थिर कर लेना प्रत्याहार है।

इन्द्रियों के दस विषय ये हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; वचन। आदान, प्रत्यादान, गमनागमन इत्यादि कर्मेन्द्रियों विषय हैं।

मन के विषय ये हैं :—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, संशय, प्रमाद, भ्रान्ति, विचिकित्सा, विषाद, शोक इत्यादि।

इन सब विषयों से मन का निरोध करके मन को मन के स्वरूप में दस मिनट तक जो स्थिर करना है, यह प्रत्याहार की अवस्था होती है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर अभ्यासी का ग्यारह इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है।

पतञ्जलि ऋषि के सिद्धान्त के अनुसार तो प्रत्याहार योग के बाह्य अंगों में से है और याज्ञवल्क्य के सिद्धान्त के अनुसार आभ्यन्तर अंगों में से है। याज्ञवल्क्य जी ने पहले चार अंगों— यम, नियम, आसन, प्राणायाम को ही बाह्य अंग माना है और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि को आभ्यन्तर अंग माना है। प्रत्याहार में पूर्ण स्थिति होने पर अभ्यासी धारणा का अधिकारी बनता है।

(१४) धारणा कैसे करें ?

धारणा दो प्रकार की है, बाह्य और आभ्यन्तरिक। बाह्य— किसी पदार्थ जैसे तस्वीर या 'ओ३म्' का चित्र, फूल, अथवा कोई और दृश्यमान वस्तु। आभ्यन्तरिक-मूलाधार नाभि-देश, हृदय-देश, त्रिकुटि, ब्रह्मरन्ध्र।

महर्षि पातञ्जलि ने धारणा का लक्षण यह किया है :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

"चित्त का बाह्य या आभ्यन्तर देश में जो समाहित करना है, वह धारणा है।"

यदि यह समाहितता दो घण्टे निरन्तर बनी रहे, अर्थात् जिस वस्तु पर धारणा की गई है, उसके सिवाय और संकल्प-विकल्प पैदा न हो और चित्त लगातार दो घण्टे तक उसी वस्तु में स्थिर बना रहे, तो धारणा की परिपक्व अवस्था होती है। योगी का उद्देश्य समाधि में पहुँचने का है, अतः यह धारणा समाधि का प्रथम द्वार है।

अभ्यासी को चाहिये कि आसन पर स्थिर होकर, जिसका उसे कम से कम दो घण्टे का अभ्यास हो चुका हो, उस पर शांतभाव से अडोल बैठ जाये। फिर अपने मन को सब ओर

से शांत बना कर सब प्रकार के विचारों को त्याग कर, सब संकल्पों से रहित होकर, मन से मूलाधार में प्रवेश करे।

गुदा और उपस्थ के मध्य में मेरु-दण्ड के अग्रभाग में, जो स्थान है, उसे मूलाधार कहते हैं। इस स्थान में अपान प्राण का मुख्य-केन्द्र (प्रधान कार्यालय) है। यहां रहकर यह अपान पांव के अंगुष्ठ से लेकर नाभि तक अपने व्यापार को करता है। इसी मूलाधार के स्थान में अव्यक्त कुण्डलिनी नाम की शक्ति है और यहां से ही सुषुम्ना नाम की नाड़ी प्रारम्भ होती है। इसी सुषुम्ना के मध्य में चित्रा नाडी है। इसके मध्य में ब्रह्म नाम की नाड़ी है। इसी सुषुम्ना के वाम तथा दक्षिण भाग में ईड़ा-पिंगला नाम की नाड़ियां हैं। और भी कई एक मुख्य नाड़ियां यहां से प्रारम्भ होकर, नीचे तथा ऊपर के भाग में जाती हैं, परन्तु इनमें मुख्य तथा विशेष रूप से सुषुम्ना ही का स्थान है, क्योंकि सुषुम्ना से ही सारे शरीर में ज्ञान का संचार होता है। अतः इस सुषुम्ना से सहस्रों नाड़ियां सारे शरीर में ज्ञान का संचार पहुँचाती है।

जब अभ्यासी अपने मन द्वारा इस मूलाधारा में अभ्यास आरम्भ करता है और मन से बारबार यहां ध्यान जमाता है, अपान प्राण तथा मन के संयोग से दिव्य--शक्ति के रूप में यह कुण्डलिनी नाम की दिव्य-ज्योति प्रकट होती है और सुषुम्ना के द्वार से ऊर्ध्व गमन करती है। यह सुषुम्ना मेरु-दण्ड के मध्य भाग से ऊपर को ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँची हुई है। प्रत्येक चक्र में इस का स्थान नाड़ियों के बन्धन से कुछ बन्द सा रहता है। यह कुण्डलिनी शक्ति दिव्य-ज्योति के रूप में उत्पन्न होकर, चक्रों के सारे द्वार खोलती-सी चली जाती है। जैसे रबड़ की सिकुड़ी हुई नली में वायु भर दें, तो वह इसे खोलती चली जाती है, इसी प्रकार यह

दिव्य ज्योति भी सारे चक्रों के बन्धनों को खोलती हुई, सब चक्रों का दर्शन कराती चली जाती है।

हमारे अनुभव में ये चक्र केवल नाड़ियों ही के पुंज नहीं हैं; अपितु एक प्रकार के दिव्य-प्रकाश ही के मण्डल हैं। कई एक आचार्यों का सिद्धान्त है कि यह कुण्ठलिनी शक्ति सर्पाकार की एक नाड़ी है, जो कि प्राणायाम, मुद्रा, ध्यानादि से जागृत होकर, ऊर्ध्व-गमन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचती है। परन्तु हमारा ऐसा अनुभव है कि अपान प्राण और मन के संयोग से एक दिव्य प्रकाश इस मूलधार में उत्पन्न होकर आभ्यन्तरिक यावत् शरीर को प्रकाशित-सा कर देता है। तब बहुत से अभ्यासियों को कम्पन, भय इत्यादि भी होने लगते हैं, परन्तु वे कुछ दिनों के अभ्यास से दूर हो जाते हैं।

बहुत से अभ्यासियों को ऐसा भी होता है कि यह ज्योति मूलाधार ही को प्रकाशित करके यथावत दर्शन करा देती है। परन्तु जब बार-बार तीव्र सम्वेग से अभ्यासी मूलाधार में अभ्यास करता है, तो यह दिव्य-ज्योति ऊर्ध्व-गमन करके मूलाधार के ऊपर के द्वार को खोल कर स्वाधिष्ठान में प्रवेश कर जाती है। किसी-किसी बुद्धिमान् निष्ठान् सूक्ष्म मेधा वाले, तीव्र अभ्यासी को तो प्रथम दिन ही मूलाधार में यह ज्योति प्रकट होती है। परन्तु मन्द-गति और मन्द-बुद्धि वाले अभ्यासी को कई-कई दिन या मास या वर्ष भी लग जाते हैं। यदि कोई ऊंचे दर्जे का योगी गुरु मिल जाये, तो पहले ही दिन आभ्यन्तरिक सारे ही पदार्थों का ज्ञान करा देता है। इसके लिये अधिकारी जिज्ञासु भी पूर्ण होना चाहिये। शम, दम, उपरति, तितिक्षा-सम्पन्न पूर्ण श्रद्धावान् वीतराग आज्ञाकारी, सेवा-भाव से युक्त जिज्ञासु होना चाहिये।

मूलाधार में मन को ले जाकर, जब दिव्य-ज्योति प्रकट करने का यत्न किया जाता है, तो वह दिव्य-ज्योति नाना रूपों में प्रकट होती है। कभी दीप-शिखा के समान, कभी नील, पीत, श्वेत, धुंधली-सी प्रकाश युक्त ज्योति प्रतीत होने लगती है। ऐसी ज्योति एक दो चक्र तक प्रकाशित होकर समाप्त हो जाती है। परन्तु जब अत्यन्त सात्विक अवस्था हो, और मन भी सत्व-प्रधान हो, तो मन के द्वारा पुनः-पुनः ध्यान करने से, वह जो महान् ज्योति प्रकट होती है, वह शुभ्र-ज्योति सारे शरीर के नस नाड़ी, स्थान और पदार्थों तथा अंगों को ब्रह्मरन्ध्र तक प्रकाशित कर देती है। यदि ऊंचे दर्जे का सूक्ष्म-दर्शी, तीव्र-सम्वेगी अभ्यासी हो, तो उसी काल में शरीर में जितने अतीन्द्रिय व्यष्टि तथा समष्टि पदार्थ हैं, उन सब का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

मूलाधार में ज्योति प्रकट होने के पश्चात् अभ्यासी फिर स्वाधिष्ठान में प्रवेश करे। यह स्थान मूलाधार से लगभग चार अंगुल ऊपर मेरु-दण्ड के अग्रभाग में है। रज और वीर्य का भी मुख्य-केन्द्र इसी भाग के समीप है। कई एक आचार्यों का यह भी सिद्धान्त है और कुछ एक तंत्र-शास्त्रों के मानने वाले यह कहते हैं कि मूलधार में ही जीवात्मा की मुख्य रूप में अव्यक्त शक्ति है। कुछ यह कहते हैं कि जीवात्मा की स्वाधिष्ठान में मुख्य रूप से अव्यक्त स्थिति है। परंतु हमारा अनुभव ऐसा है कि ये दोनों ही स्थान जीवात्मा के वास्तविक निवास के स्थान नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों स्थानों में ही गर्भ के रूप में बालक का जन्म होता है, इस लिये इन लोगों को भ्रान्ति हो गई है कि यही हमारे जीवात्मा का वास्तविक निवास है। हां, यदि इसको बालक के जीव का गर्भ काल में निवास स्थान कह दिया जाये, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसके पश्चात् स्वाधिष्ठान में अभ्यास करते हुए, उस दिव्य-ज्योति का संचालन करके, ऊर्ध्व-गमन करते हुए मणिपुर-चक्र में ध्यान द्वारा उस दिव्य-ज्योति को साथ लेकर प्रवेश करना चाहिये। मणिपुर को ही नाभि-देश भी कहते हैं। यह चक्र भी मेरु-दण्ड के अग्र-भाग में है। यहां से नीचे 'अपान' प्राण का व्यापार होता है और यहां से हृदयतक 'समान' कार्य करता है। ऊर्ध्व-गमन करने वाली नाड़ियों के मध्य अर्थात् नाभि देश में जब मनुष्य शब्द का उच्चारण करता है, तो शब्द की उत्पत्ति यहीं से हो कर फेफड़ों में से गमन करती हुई कण्ठ में जा कर कुछ व्यक्ति-सी होती है। फिर कण्ठ तालु और जिह्वा के संयोग-विशेष से मुख से उच्चारित होती है। धारणा के द्वारा इन चक्रों का केवल सामान्य-ज्ञान ही होता है। इन चक्रों के विषय में आचार्यों के कई एक सिद्धांत हैं। कोई तो कहते हैं कि ये चक्र कोई पदार्थ नहीं है। कई अर्वाचीन आचार्य इन्हे षट्चक्र ही कहते हैं। प्राचीन आचार्य वेद का प्रमाण दे कर आठ और दस चक्रों का विधान करते हैं।

अब तक हम मणिपुर चक्र तक सामान्य रूप से लिख चुके हैं। नाभि तथा हृदय के मध्य में 'समान' प्राण के मध्य में सूर्य और चन्द्र नाम के दो और चक्र हैं। अमाशय के कुछ दक्षिण भाग की ओर जिसे कि पित्ताशय (Call blader) कहते हैं, इस स्थान पर ही सूर्य नाम का चक्र है। प्रायः इसके द्वारा ही भुक्त और पीत पदार्थों का पाक होता है। और इसी को प्रायः जठराग्नि के रूप में भी वर्णन करते हैं। इसके वाम पार्श्व की ओर जहां कि प्लीहा होती है अर्थात् सूर्य और हृदय-चक्र के बीच में, मनस-चक्र नाम का चक्र है। बहुत से लोग इसे चन्द्र-चक्र भी कहते हैं। यहीं से प्रायः रस का विभाग होकर हृदय या अन्य नाड़ियों में जाता है। इसके ऊपर के भाग में अनाहत-

चक्र या हृदय-चक्र नाम का स्थान है। अर्वाचीनों ने इन चक्रों की नाना प्रकार की आकृतियां भी बनाई हैं और कई दलों का भी निर्माण किया है। उनमें अक्षरों तथा देवताओं का भी कथन किया है।

हृदय-चक्र के अन्दर हमारे अपने विचार और अनुभव में छः पदार्थों का मुख्य स्थान है। इनका वर्णन समाधि के अंग में किया जायेगा। धारणा के द्वारा केवल पदार्थ के बाह्य स्वरूप ही का कुछ दिग्दर्शन होता है। इसके ऊपर कण्ठ देश में पहुँच कर नाभि से उत्पन्न होकर शब्द कुछ व्यक्त होता है। ऋषभ, गांधारादि स्वरों का मुख्य केन्द्र विशुद्धि-चक्र ही में है।

इसके ऊपर त्रिकुटि या भ्रूमध्य में आज्ञा-चक्र है। बहुत से अभ्यासी, जिनका प्रथम मूलाधार में मन प्रवेश नहीं करता, उनको प्रथम इस आज्ञा-चक्र में अभ्यास कराना चाहिये। यहां प्रथम दिन ही या कुछ दिनों के अभ्यास से नाना प्रकार के प्रकाश उत्पन्न होने लगते हैं। इन प्रकाशों में भी नाना रंग पैदा हुआ करते हैं। कभी नील, पीत, कभी श्वेत। कभी-कभी एक ही रंग का प्रकाश बहुत देर तक बना रहता है और कभी क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है। जब अभ्यासी को यहाँ निरन्तर ज्योति प्रकट होने लगे, तो ध्यान द्वारा इस ज्योति को ले जाकर मूलाधार में मन सहित प्रवेश करे और वहां निरन्तर ध्यान करते हुए, दिव्य-ज्योति को प्रकट करे। त्रिकुटि में अभ्यास करने से ज्योति उत्पन्न होकर शीघ्र मूलाधार में प्रवेश हो जाती है और फिर क्रम से चक्रों का ज्ञान होता चला जाता है।

इस आज्ञा-चक्र में ही मूलाधार से उत्पन्न हुई सुषुम्ना, इडा, पिंगला नाड़ियां आकर सम्बन्धित होती हैं। जहाँ इनका संगम है, उसी स्थान को भ्रमर-गुहा का नाम दिया गया है। इसे त्रिवेणी

भी कहा गया है। जैसे बाह्य लोक में गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम को त्रिवेणी कहते हैं। योगी लोग ध्यान-योग द्वारा इसी त्रिवेणी में स्नान करते हैं। यह तीनों नाड़ियां फिर यहाँ से कुछ विभक्त होकर ब्रह्मरन्ध्र में जाकर समाप्त हो जाती हैं। त्रिकुटि से सुषुम्ना के दो विभाग हो जाते हैं। एक पृष्ठ भाग से होता हुआ लघु-मस्तिष्क की ओर चला जाता है और दूसरा भाग अग्र-भाग से जाता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में समाप्त हो जाता है।

इस आज्ञा-चक्र के ऊपर कुछ ही समीप ललाट नाम का चक्र है। यह ललाट-चक्र साफ प्लेट जैसा है। ब्रह्मरन्ध्र में जो मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों की ज्योतियें हैं, वे इसी को भेदन करके बाहर फैलती हैं। इस ललाट-चक्र के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र नाम का चक्र है। इसको सहस्रार या दशम द्वार भी कहते हैं। यह ब्रह्मरन्ध्र ही वह स्थान है, जो सिरके ऊपर मध्य में एक पोल-सा होता है। दोनों कनपटियों के दो अंगुल अन्दर और त्रिकुटि भाग के दो अंगुल अन्दर तथा तालू भाग के लगभग दो अंगुल ऊपर, सिर के बालों के दो अंगुल नीचे, वह ब्रह्मरन्ध्र नाम का चक्र है।

हमारे अपने विचार और अनुभव में विज्ञान के केन्द्र मुख्य रूप से दो ही हैं। ब्रह्मरन्ध्र और हृदय-देश। क्योंकि यह धारणा का विषय चल रहा है, इस धारणा का अभ्यास बाह्य और आभ्यन्तर विषयों पर किया जाता है। वास्तव में बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञान का विषय समाधि ही है; परन्तु सामान्य रूप से धारणा के द्वारा भी बाह्य और आभ्यान्तर पदार्थों का ज्ञान होता है। जिस प्रकार आभ्यान्तर दस चक्रों पर अभ्यासी धारणा को परिपक्व करता है, उसी प्रकार दस प्रकार के प्राणों पर भी धारणा का अभ्यास करना चाहिये। जैसेकि प्रथम मूला-धार में अपान प्राण का केन्द्र बतलाया था, तो इस अपान प्राण

पर भी धारणा का अभ्यास करना चाहिये। नाभि से लेकर पांव के अंगुष्ठ तक, यह अपान अपना कार्य करता है। गुदा तथा लिंग द्वारा मल मूत्रादि का फेंकना, अथवा रज और वीर्य का पतन करना, इस अपान का कार्य है। गर्भ का पालन-पोषण तथा उदर से बाहर लाना भी, इसी अपान ही का कार्य है। इसमें पृथिवी का भाग विशेष है; इसीलिये इसमें गुरुत्व भी है और किंचित् कृष्ण वर्ण है। हमारे अनुभव में प्राण दो प्रकार का है। एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। स्थूल वह है, जो भौतिक वायु के रूप में शरीर के दस केन्द्रों में अपना कर्म-व्यापार करता है। इसी स्थूल प्राण पर ही अभ्यासी को धारणा करनी चाहिये। सूक्ष्म प्राण का अन्तःकरण के साथ विशेष सम्बन्ध होने से, समाधि में उसका वर्णन किया जायेगा।

नाभि से लेकर हृदय पर्यन्त समान प्राण का व्यापार होता है। यह समान प्राण ही नाभि से हृदय तक कर्म करते हुए भुक्त और पीत अन्न एवं जल इत्यादि का पाक इसमें करा, रस को विभक्त करके, हृदय देश में रस से रुधिर बनाने के लिये गमन कराता है, अथवा सब नाड़ियों में रस को पहुँचाता है और शेष भाग अर्थात् मलादि को नीचे अपान प्राण को समर्पण कर देता ह।

इसमें जलतत्व विशेष हैं और किंचित् शुक्ल वर्ण का है। हृदय से कण्ठ पर्यन्त प्राण व्यापार रहता है। क्षुधा एवं पियास लगाना इसी प्राण का काम है; क्योंकि इसमें अग्नि तत्व का विशेष अंश है। यह किंचित् पीत रक्त वाला है। श्वास-प्रश्वास की गति भी प्राण ही कराता है और हृदय के कार्य भी, यही कराता है।

हमारे अपने विचार और अनुभव में शरीर में यह भौतिक

प्राण ऐसा ही है, जैसे एक कमरे में भौतिक वायु या आकाश मंडल में वायु। जैसे कमरे के वायु से हम जीवन लेते हैं, वैसे ही शरीर के भौतिक वायु रूपी प्राण से जीवन धारण करते हैं। इससे ऊपर कण्ठ-देश में 'उदान', प्राण का मुख्य केन्द्र है, यह उदान प्राण मुख द्वारा जो अन्न एवं जल ग्रहण किया जाता है, उसे नीचे भेजता है या वमन रूप में बाहर फेंकता है। कण्ठ देश में शब्दों के उच्चारण में सहकारी होता है। इसमें वायु का अंश विशेष है। यह किंचित् नीलवर्ण वाला है।

पाँचवाँ प्राण 'व्यान' है, यह सारे शरीर में व्यापक रूप से रहता है। रक्त और ज्ञानादि का संचार भी यही करता है। दूसरे प्राणों के साथ सहकारी होकर, इनमें शक्ति सम्पादन करता है। इसमें आकाश तत्व का अंश विशेष है।

इसी प्रकार जो पाँच उपप्राण नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनञ्जय हैं, इनके स्थान में भी धारणा का अभ्यास करना चाहिये। इनमें से चार का स्थान तो कण्ठ से ऊपर ही है, परन्तु धनञ्जय व्यान की तरह सारे शरीर में रहता है। नाग उपप्राण उद्गार (डकार) को पैदा करता है। कूर्म नेत्रों को खोलता तथा बन्द करता है। कृकल छींक लाता है। देवदत्त जमहाई को लाता है। और धनंजय मरने के पश्चात शरीर को फुला देता है। इस प्रकार इन दसों प्राणों को जान कर, अभ्यासी को इनके केन्द्रों में धारणा का अभ्यास करना चाहिये। तब इन प्राणों का सामान्य ज्ञान हो जाता है।

(१५) ध्यान की बात

इसके पश्चात् ध्यान है। योग दर्शनकार ने ध्यान का यह लक्षण किया है :—

तत्र प्रत्येकतान्ता ध्यानम् ।

उस धारणा के देश में (ध्येये जो अवलम्बन विषय है) निरन्तर लगातार मन का लगे रहना ध्यान कहलाता है। क्योंकि यह धारणा को भी एकतान रूप से बनाये रखता है। यह ध्यान जहां धारणा का सहकारी है, उसी प्रकार यह समाधि का भी सहकारी है। क्योंकि समाधि को निरन्तर एकतान्ता-रूप धारा-प्रवाह से बनाये रखना भी इसी का काम है।

ज्यों-ज्यों ध्यान की अवस्था परिपक्व होती जाती है, अभ्यासी उसमें सफल होता जाता है। अभ्यासी को चाहिये कि वह धारणा के सारे केन्द्रों अर्थात् दस प्रकार के चक्रों और दस प्रकार के प्राणों पर ध्यान को दृढ़ करे। क्योंकि धारणा के स्थान में ही चित्त का एकतान (दस बारह घण्टे तक) बने रहना, या लगे रहना, ध्यान की परिपक्व अवस्था होती है। ऐसा होने पर फिर अभ्यासी समाधि में प्रवेश करने का अधिकारी है।

समाधि

धारणा और ध्यान में अभी विशेष ज्ञान का ऐसा कोई विषय नहीं आया, जो आत्म-ज्ञान या मोक्ष का हेतु हो। समाधि ही एक ऐसी अवस्था है, जो विशेष रूप से पदार्थों के साक्षात्कार का हेतु होती है। विद्वानों के उपदेश तथा शास्त्र-ज्ञान से केवल योगोक्त पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही होता है; परन्तु समाधि के द्वारा विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

समाधि के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद हैं। कोई एक ही प्रकार की, कोई दो, कोई तीन और चार प्रकार की समाधि मानते हैं। कई इसके छः और आठ प्रकार बतलाते हैं। योग के सिद्धान्त में प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा है। सत्व, रज, तम की साम्य-अवस्था को प्रकृति कहते हैं। जब प्रकृति और उसके कार्य-

विषयक समाधि द्वारा विज्ञान प्राप्त करना होगा, तो वह भी त्रिगुणात्मक विज्ञान ही होगा। चित्त भी त्रिगुणात्मक है, अतएव यह चित्त अपने कार्य और कारण जो त्रिगुणात्मक पदार्थ हैं, उन्हीं को प्रत्यक्ष कराने में समर्थ हो सकता है, साक्षात् रूप से चेतन को नहीं। अतः चित जन्य समाधि भी त्रिगुणात्मक ही हो सकती है। जब अभ्यासी ध्यान द्वारा समाधि में प्रवेश करता है, तो उस समय जो गुण-प्रधान होगा, उसी में चित्त की परिस्थिति होगी, जो अभ्यासी का निश्चित किया हुआ हो।

तमः प्रधान समाधि

यदि उस समय चित्त में तमः प्रधान हो तो चित्त उस तमः ही में प्रवेश कर जड़वत् या शून्य-सा ही हो जायेगा, और उस समय चित की जो स्थिति जितने काल तक (दो चार, दस वारह घण्टे, दिन, दो चार दिन या इससे भी अधिक दिन) रहेगी, उस काल में केवल शून्यता ही वहां आलम्बन होगी और अन्य कुछ भी सम्वेदन नहीं होगा, जैसे कि सात्विक राजस और तामस निद्रा में होता है। ऐसी समाधि से व्युत्थान के पश्चात् सिवाय शून्यता या जड़ता के किसी भी प्रकार का अनुमान उस काल का नहीं होता, जैसे निद्रा के पश्चात् होता है। इसी को बहुत से अभ्यासी जड़-समाधि, शून्य-समाधि, निर्विकल्प अथवा निर्वीज-समाधि का नाम देते हैं।

आप यह शंका कर सकते हैं कि समाधि तो सत्व-प्रधान ही होती है। आपकी यह शंका ठीक है। हम भी ऐसा ही मानते हैं कि सत्व प्रधान समाधि होती है। परन्तु तमः और रजः प्रधान भी समाधि हो सकती है। जब चित्त को समाहित ही करना है, तो किसी भी पदार्थ या गुण अथवा अवस्था में उसे समाहित किया जा सकता है। जब आप उसे सत्व गुण प्रधान में समाहित करते

हैं; तो उसे तमः प्रधान तथा रजः प्रधान में भी तो समाहित कर सकते हैं। जब योगी का चित्त पर पूर्ण अधिकार हो जाता है, तो वह यदि तमः प्रधान हो, तो उसको परिवर्तन करके उसके स्थान पर सत्व या रज को प्रधान बना कर, उनमें भी प्रवेश कर सकता है।

जैसे एक अभ्यासी किसी निश्चित समय में नित्य प्रति अभ्यास करता है, और चित्त में भोग देने के लिये गुणों का परिवर्तन होता रहता है, तो उस समय जो भी गुण प्रधान होगा, उसी में प्रवेश करके चित्त स्थिर हो जायेगा। जसे एक मनुष्य को जिस काम को करने की नित्य प्रति आदत है, वह प्रातः उठते ही उस में प्रवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार अभ्यासी को नित्य प्रति अभ्यास में बैठने की आदत है, परन्तु गुणों को परिवर्तन करने की योग्यता या शक्ति अभी प्राप्त नहीं हुई या उन पर अभी पूर्ण अधिकार नहीं हुआ, तो उस समय जो भी गुण प्रधान होगा, उसी में उसकी समाधि हो जायेगी। क्योंकि अकेला कोई भी गुण किसी कार्य का आरम्भक नहीं होता। अतएव गौण रूप से वहां सत्व और रज सहकारी रहेंगे। योग के आचार्यों ने—

"स्थिति शीलं तमः—

तम का अर्थ किया है, वहां मुख्य रूप से तम ही प्रधान रहता है। इस लिये तम ही की अनुभूति होगी, जोकि निद्रावृत्ति से एक विलक्षण अवस्था है।

रजः प्रधान समाधि

जिस समय अभ्यासी चित्त को समाहित करके रजः प्रधान समाधि में प्रवेश करता है, तो जिस पदार्थ को ध्येय रूप से लक्ष्य बनाया होता है, ध्यान द्वारा जब चित्त के साथ उसका सम्बन्ध विशेष होता है, तो उस पदार्थ सम्बन्धी ही विज्ञान उत्पन्न होता

है कि यह किस प्रकार का पदार्थ है? कितना लम्बा चौड़ा, त्रिकोन, अणु या विभु, स्थिर या गतिशील, किस प्रकार का रंग रूप, कहां इसकी स्थिति है, मध्यम परिणामी है या नहीं? तब उसी पदार्थ सम्बन्धी ऊहा-पोह होता है। उस पदार्थ के अतिरिक्त मन अन्यत्र नहीं जाता; क्योंकि यह रजः प्रधान समाधि है।

'क्रिया शीलं रजः।'

रजोगुण में क्रिया ही प्रधान है। यह रजस् का लक्षण किया गया है। यदि इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कह दिया जाये, तो कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि सम्प्रज्ञात सविकल्प समाधि में शब्द अर्थ और ज्ञान बना रहता है, अतः एव इस रजस्-प्रधान में भी क्रिया ही मुख्य है और वह क्रिया पदार्थ के प्रत्यक्ष कराने में मुख्य रहती है।

सत्त्व प्रधान समाधि

तीसरी समाधि सत्त्व प्रधान है। इसमें केवल ध्येयाकार-वृत्ति रहती है। पदार्थ है। 'अस्ति अस्ति' (है है)—इस प्रकार का ध्यान बना रहता है। उस ध्येयाकार-वस्तु में मन के निरन्तर लगे रहने से विशेष आनन्द की उपलब्धि होती है। इस अवस्था में पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं होता। केवल ध्येयाकार वृत्ति ही बनी रहती है। यहां आनन्द की जो उपलब्धि होती है, उसी को उपनिषद् ने यों लिखा है—

'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तद् अन्तः करणेन गृह्यते।'

"उस का आनन्द वाणी वर्णन नहीं कर सकती, क्योंकि वह स्वयं अन्तः करण से अनुभव होता है।"

ऐसा आनन्द सत्त्व प्रधान समाधि में ही होता है।"

ब्रह्मरंध्र में

पहले लिखा जा चुका है कि हमारे अनुभव में ज्ञान के दो ही मुख्य केन्द्र हैं—ब्रह्मरन्ध्र और हृदयदेश । जब अभ्यासी धारणा और ध्यान के द्वारा दस चक्रों और दस प्राणों के विषय में सामान्य-ज्ञान प्राप्त कर चुका हो, तो उसको ध्यान के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर, वहां जो पदार्थ हैं, उनके प्रत्यक्ष विशेष ज्ञान के लिये अभ्यास करना चाहिये ।

ब्रह्मरन्ध्र त्रिकुटि और ललाट के ऊपरी भाग में है । जिस प्रकार रबड़ की गेंद में पोल होता है, उसी प्रकार का ब्रह्मरन्ध्र पोल युक्त और तरल-सा भाग है । ज्ञान कर्म-इन्द्रिय जोकि बाह्य-रूप से हैं, जैसे नेत्र, नेत्र के जो बाहिर के गोलक हैं—इन से निस्सरण हो कर, ज्ञान-वाहक नाड़ियां ब्रह्मरन्ध्र के साथ जाकर सम्बन्धित हुई हुई हैं । इसी प्रकार जो अन्य ज्ञान तथा स्थूल कर्म इन्द्रिय हैं, इन सब की ज्ञान वाहक नाड़ियां ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित हैं । ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर जो आकाश-मण्डल है, कई विद्वान् आचार्य उसी आकाश को हृदयाकाश भी कहते हैं, परन्तु हमारे अनुभव में हृदयाकाश अनाहत-चक्र में है । हमारा यह भी विचार है कि सूक्ष्म-शरीर इस ब्रह्मरन्ध्र ही में वर्तमान रहता है, जोकि १७ तत्वों का है : यथा—

५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ तन्मात्रा, १ मन, १ बुद्धि ।

इस ब्रह्मरन्ध्र रूपी आकाश-मण्डल के अन्दर मध्य में बुद्धि का मण्डल विस्तृत रूप से रहता है और इसी मण्डल में गतिमान मन सूक्ष्म रूप से रहता है । जब मन का सम्बन्ध ज्ञान तथा कर्म इन्द्रियों के मण्डल के साथ होता है, तो उनके विषयों से प्रतिबिम्बित हो करके, इसमें संकोच तथा विकास रूपी क्रिया होती है । वह क्रिया विद्युत् की गति से भी सहस्रों गुणा तीव्र गति वाली

होती है। इस बुद्धि तथा मन के बाह्य किनारों पर ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों के छोटे-छोटे मण्डल हैं। ये सूक्ष्म इन्द्रियों के मण्डल ही लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्धित होकर, मृत्यु के पश्चात् गमन करते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के मण्डलों के अग्र-भाग में पंच तन्मात्रा का मण्डल रहता है, जो इन दसों इन्द्रियों तथा मन बुद्धि के मण्डलों को, बाह्य रूप से आच्छादित करके रहता है, जैसे स्थूल शरीर को त्वचा। यही लिङ्ग-शरीर कहलाता है। जिस प्रकार पञ्च स्थूल भूतों से यह हमारा शरीर, अन्नमय-कोश, बना हुआ है, उसी प्रकार सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राओं से यह लिंग-शरीर बना हुआ है, और सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रा ज्ञान, कर्म, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, के समूह को ढाँप करके रखता है।

बहुत से विद्वानों का यह कथन है कि ब्रह्मरन्ध्र में जो बुद्धि का मण्डल है, यही आत्मा है, क्योंकि मन कर्म और ज्ञानेन्द्रियों के साथ जो व्यापार करता है, उसका निर्णय इस बुद्धि-मण्डल ही में होता है। इसी लिये यह भ्रान्ति हो जाती है कि "यह बुद्धि ही जीवात्मा है, और यही भोक्ता-कर्त्ता है।" बाह्य स्थूल इन्द्रियों के जो गोलक हैं, इनके प्रति सूक्ष्म इन्द्रियें या इनके मण्डल करण हैं। इन सूक्ष्म इन्द्रियों के प्रति मन करण रहता है, क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र में बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार इस मन रूपी करण के द्वारा होता है। इसलिये कुछ महानुभावों ने इस बुद्धि को ही कर्ता, भोक्ता, आत्मा मान लिया है, परन्तु इस बुद्धि का भी करण मौजूद है, जिसका वर्णन हृदयदेश में किया जायेगा।

जब हम स्थूल नेत्र से किसी बाह्य पदार्थ को देखते हैं, तो बाह्य स्थूल रूप का नेत्र-पटल पर आभास पड़ता है। इसके पश्चात् ज्ञान-वाहक नाड़ियों में, जो इसके पृष्ठ भाग से सम्बन्धित हैं, गति होकर सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय पर जाकर वह रूप सूक्ष्म नेत्र के

ऊपर प्रतिविम्बित होता है। तव उस सूक्ष्म नेत्र के मण्डल में गति या क्रिया होने लगती है। मन इतना सावधान रहता है कि जिस इन्द्रिय के मण्डल से उसको रूप, रस, गंध आदि का सन्देश पहुँचता है, वह उससे तत्काल प्रतिविम्बित होकर बुद्धि के मण्डल से उस पदार्थ के ज्ञान का निर्णय कराने के लिये वहुत ही तीव्र रूप से लहरों या तरंगों के रूप में गति करने लगता है। उस समय मन का जो व्यापार बुद्धि के मण्डल में होता है, उसका ध्यान करना या समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

हमारे अपने अनुभव में इन १७ पदार्थों की आकृति रंग, रूप, व्यापार भिन्न-भिन्न हैं। अभ्यासी के लिये इस भिन्नता को ब्रह्म-रन्ध्र में समझना वहुत कठिन होता है। विना सच्चे गुरु या आचार्य के ज्ञान कराये उस अभ्यासी को इनके समझने में भ्रान्ति-सी हो जाती है। क्योंकि यह सारा अतीन्द्रिय विज्ञान है। गुरु जब प्रत्येक मण्डल या पदार्थ का ज्ञान करा देता है, तभी अभ्यासी उसका साक्षात्कार कर सकता है।

यद्यपि पहले यह लिखा जा चुका है कि शास्त्र और गुरु द्वारा सामान्य ज्ञान ही होता है; परन्तु गुरु अपने मनोबल से प्रभावित करके और उसके मन या बुद्धि की गति करा कर, उस पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में सहकारी अवश्य होता है। जैसे कि एक सेनानायक सहस्रों सैनिकों का नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार योगी गुरु भी मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि का नियन्त्रण करके पदार्थ के साथ सम्बन्धीत करा कर, उस का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में सहकारी होता है।

ब्रह्मरन्ध्र के पदार्थों का वर्णन लेखनी के द्वारा नहीं हो सकता। यह तो स्वयं ही अनुभव करने या कराने योग्य है, और गुरुद्वारा ही जानने योग्य है। जैसे पाठशाला के विद्यार्थी अध्यापक के पास

निरन्तर कई घण्टे प्रतिदिन रह कर पढ़ते हैं, तब जाकर कई वर्षों में लौकिक विद्या का ज्ञान होता है, या शास्त्री, आचार्य बी० ए०, एम० ए० बनते हैं, इसी प्रकार दीर्घ काल पर्यन्त और निरन्तर किसी उत्तम विद्वान् योगी के समीप रह कर, इस अध्यात्म-विद्या को प्राप्त करना चाहिये। जैसे कि इन्द्र ने प्रजापति के चरणों में रह कर, इस ब्रह्म-विद्या को प्राप्त किया था।

प्रकृति विज्ञान

अब पहले प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक है; क्योंकि अभ्यासी को चाहिये कि वह पहले प्रकृति के उन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर ले, जिन का साक्षात्कार कर के उसे मोक्ष प्राप्त करना है। अतएव उन पदार्थों का सामान्य रूप से यहां उल्लेख करते हैं कि अभ्यासी को क्रम-पूर्वक समाधि-काल में पदार्थों के साक्षात्कार करने में सुभीता रहे। येही पदार्थ जीव के बन्धन का हेतु हैं। इनका तत्व ज्ञान प्राप्त करके, इन से परम वैराग्य होना ही मोक्ष है।

योगाचार्यों ने सत्व, रज, तम की साम्य-अवस्था को प्रकृति के नाम से कथन किया है। यह साम्य-अवस्था प्रलय-काल में ही होती है। प्रलय-काल के पश्चात् जिस समय सृष्टि का आरम्भ होता है, ब्रह्म के सम्बन्ध विशेष से इस प्रलय-काल की साम्य-अवस्था प्रकृति में सर्वप्रथम जो परिणाम उत्पन्न होता है, उस उत्पन्न हुए पदार्थ का नाम ,महत्तत्त्व, है। इसी को समष्टि महत्तत्व भी कहते हैं। इस महत्तत्त्व का उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अतः इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से जो भी पदार्थ उत्पन्न होंगे, वे त्रिगुणात्मक ही होंगे। यह प्रकृति का सर्व प्रथम विकार या कार्य महत्तत्व है, यह भी सत्व, रज, तम भेद से तीन प्रकार का है :—

(१) सत्व प्रधान महत्तत्व,

(२) रजस् प्रधान महत्तत्व और,

(३) तमस् प्रधान महत्तत्व।

ब्रह्म इसी सत्व प्रधान महत्तत्व को ग्रहण करके इसके द्वारा सृष्टि का सृजन करता है और रजस् प्रधान जो महत्तत्त्व हैं, इससे समष्टि जीवों के अन्तःकरण की उत्पत्ति होती है। तमस् प्रधान महत्तत्व से समष्टि अहंकार की उत्पत्ति होती है। सत्व और रजस् प्रधान अहंकार से समष्टि मन की उत्पत्ति होती है। सत्व प्रधान अहंकार से समष्टि ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। केवल रजस् प्रधान अहंकार से समष्टि कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। तमस् प्रधान अहंकार से पञ्च-तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

सत्व प्रधान तन्तात्राओं से लिंग-शरीर की उत्पत्ति होती है। अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञान और कर्म इन्द्रियां के ऊपर जो कोप हैं, और जो इनको सङ्गठित किये हुए हैं, वे सात्विक तन्मात्राओं ही के लिंग शरीर हैं।

सत्व प्रधान तथा रजः प्रधान तन्मात्राओं से मुक्त आत्मा के सांकल्पिक शरीर का निर्माण होता है, जिसके द्वारा वह मोक्ष में सुख भोगता है अथवा उन देवताओं के शरीर का निर्माण होता है, जो आकाश मार्ग में गमन करते हैं।

सत्व प्रधान पंच भूतों से आदि सृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य, अंगीरा, ब्रह्मा आदि ऋषियों का प्रादुर्भाव होता है।

रजस् प्रधान पंच भूतों से पशु, पक्षी इत्यादि जीवोंके शरीर की उत्पत्ति होती है।

तमस् प्रधान पंच भूतों से पृथ्वी आदि लोक लोकन्तरों की उत्पत्ति होती है।

इस सृष्टि-विज्ञान को भले प्रकार बुद्धि-पूर्वक समझलेना चाहिये और फिर समाधि के द्वारा इसे प्रत्यक्ष करना चाहिये।

ब्रह्मरन्ध्र की ज्योतियां

जिस समय अभ्यासी ध्यान के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है, तो ब्रह्मरन्ध्र से कई प्रकार की ज्योतियां भिन्न-भिन्न रंग तथा आकार की निकलती-सी प्रतित होती हैं, या अन्दर ही उन की गति होती रहती है। कभी-कभी सूर्य के समान आकार वाला प्रकाश का मण्डल-सा चमकता प्रतीत होने लगता है। कभी चन्द्र के प्रकाश का मण्डल-सा, और कभी किसी हीरे के समान चमकती हुई ज्योति प्रतीत होने लगती है। कभी-कभी धुंधला-सा प्रकाश सवत्र एक समान प्रतीत होने लगता है और कभी अत्यन्त अंधकार-सा प्रतीत होने लगता है। यह सब ज्योतियां यहां मन रूपी करण के द्वारा देखने में आती हैं। ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर ये जितने भी मन बुद्धि इन्द्रिय के ज्योतिर्मय मण्डल हैं. इनका प्रकाश अनुद्भूत प्रकाश है। यह प्रकाश दर्शन का विषय तो होता है, परन्तु स्पर्श या दाह का विषय नहीं होता, जैसे कि बाह्य अग्नि, सूर्य और विद्युत का दाह तथा स्पर्श वाला होता है, और साथ ही स्थूल नेत्रों से दर्शन का भी।

इन सब मण्डलों में परस्पर के व्यवहार से भी क्रिया होती है और स्वयं अपनी क्रिया भी रहती है। जैसे पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द भी चक्कर लगाती है और स्वयं लट्टू की भांति अपनी परिधि में भी घूमती है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ तब तक गति-शील रहता है, जब तक इन का प्रलय नहीं होता। जब ध्यान के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में किसी एक इन्द्रिय के मण्डल पर अभ्यास किया जाता है, तो उस मण्डल का व्यापार या उसका स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होने लगता है। उस समय उस मण्डल में जो व्यापार होता है, लेखनी उसका वर्णन नहीं कर सकती।

जब सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है, तो उस नेत्र इन्द्रिय में जो गति होती है, वह गति तरलता या, जीवन.

को लिये हुए होती है। जैसे दो प्रकार के विद्युत का सम्बन्ध होने से एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है, इसी प्रकार सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय के सम्बन्ध से दिव्यरूप की अनुभूति होती है। वह रूप उस समय भिन्न-भिन्न आकृति वाला प्रतीत होने लगता है। और प्रतिक्षण परिणत होता रहता है। उस समय सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय का स्वरूप भी प्रत्यक्ष होता है और उसके विषय रूप तन्मात्रा का भी प्रत्यक्ष रूप से परिणाम अनुभव में आने लगता है।

इसी प्रकार जिस सूक्ष्म--इन्द्रिय के साथ ध्यान द्वारा मन को सम्बन्धित करके प्रत्यक्ष रूप से अभ्यासी देखना चाहता है, उस इन्द्रिय तथा उसके विषय का ब्रह्मरन्ध्र में उसे प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश-युक्त रश्मियाँ निकलती हुई, हमें प्रत्यक्ष होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के मण्डलों से भी भिन्न-भिन्न अनुद्भूत प्रकाश वाली रश्मियां-सी निकलती हुई प्रत्यक्ष रूप से अभ्यासी को दिखाई देने लगती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से मन प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के मण्डल में एक विचित्र प्रकार की क्रिया वाला हो जाता है। उस समय की उसकी गति का वर्णन लेखनी नहीं कर सकती।

जिस प्रकार तालाब के जल में एक पत्थर फैंकने से सहस्रों तरंगे उत्पन्न होने लगती हैं, उसी प्रकार बुद्धि के मण्डल में जब मन प्रतिबिम्बित होकर क्रिया को प्रारम्भ करता है, तो उसमें भी अनेक सूक्ष्म तरंगे-सी उत्पन्न होकर, उस बुद्धि के मण्डल में मन की संकोच-विकास पूर्वक तीव्रगति होने लगती है, जिसे कि नोट नहीं किया जा सकता। जिस समय बुद्धि तथा मन का व्यापार होता है, उस समय हृदय में स्थित अन्तःकरण, करण होता है, और जिस समय इन्द्रिय तथा मन का व्यापार ब्रह्मरन्ध्र में होता है,

उस समय ब्रह्मरन्ध्र में स्थित बुद्धि, करण होती है।

अभ्यासी को चाहिये कि वह ब्रह्मरन्ध्र में पहले पंच तन्मात्राओं के मण्डल पर अभ्यास करे। तब पंचतन्मात्राओं का प्रत्यक्ष होता है, जो कि सूक्ष्म इन्द्रियों का विषय है। तत्पश्चात् सूक्ष्म इन्द्रियों के मण्डलों पर क्रम-अभ्यास करना चाहिये। तब इन सूक्ष्म इन्द्रियों का ज्ञान होता है। फिर मन के मण्डल पर अभ्यास करने से उस के स्वरूप का ज्ञान होता है। तब बुद्धि के मण्डल पर अभ्यास करना चाहिये ताकि उसका भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय।

जब मण्डल के प्रत्यक्ष करने के लिये अभ्यासी ध्यान द्वारा समाधि की प्रथम अवस्था में प्रवेश करता है, तो उस समय सवि-कल्प अवस्था होती है। उस समय शब्द-अर्थ ज्ञान का भान होता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय यह तीनों बने रहते हैं। इस सवि-कल्प अवस्था ही में पदार्थ का ज्ञान क्रम पूर्वक होता रहता है।

जिस समय ज्ञान होते-होते केवल ध्येयाकार-वृत्ति हो जाती है तो उस समय 'अस्ति, अस्ति' (है, है) यही भान होता रहता है। ध्याता अपने आपको भूल-सा जाता है, केवल ध्येय ही की प्रतीति होती रहती है।

जिस समय अभ्यासी इन सूक्ष्म मण्डलों पर अभ्यास करता है, तो ये अपने दिव्य-स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने लगते हैं, जैसे श्रोत्र इन्द्रिय दिव्य-शब्द को, स्पर्श इन्द्रिय दिव्य-रूप को, रसना इन्द्रिय दिव्य-रस को और घ्राण इन्द्रिय दिव्य-गंध को। परन्तु स्थूल इन्द्रियों के जो बाहर के गोलक हैं, वे स्थूल शब्द स्पर्श, रूप इत्यादि के ज्ञान के हेतु होते हैं और सूक्ष्म इन्द्रियें दिव्य-शब्द, स्पर्श आदि के ज्ञान की बोधक होती हैं। वैसे मन की अपनी स्वयं गति तो कभी बन्द नहीं होती, परन्तु जब वह दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्धित होता है, तब उसमें संकोच-

विकास उत्पन्न होने लगता है। इसी प्रकार जब नेत्रइन्द्रिय किसी विषय के साथ सम्बन्धित नहीं होती, तब भी इसके अन्दर स्वयं अपनी गति रहती है, परन्तु वह गति विशेष संकोच-विकास वाली नहीं होती, हाँ जब वह विषय से प्रतिबिम्बित होती है, तब इस में भी संकोच-विकास विशेष रूप से होने लगता है। इसी प्रकार अन्य ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों में भी।

जब इन्द्रियों के मण्डल पर अभ्यासी दर्शनार्थ अभ्यास करता है, तो प्रत्येक इन्द्रिय के मण्डल को भिन्न-भिन्न रूप, आकार, क्रिया और ज्योति वाला देखता है। कभी सर्वथा श्वेत हीरे के सामन आभा वाला, कभी सूर्य के समान आभा वाला, कभी कुछ काला, अथवा नीलेपन को लिये हुए। क्योंकि प्रत्येक गुण (सत्व, रज, तम) परिणत होता रहता है। अतएव इन पदार्थों की ज्योतियाँ (स्वरूप) भी परिणत होते रहते हैं। जिस समय मन के अन्दर स्वच्छ, निर्मल श्वेत आभा होती है, जैसे कि हीरे से आभा निकलती है, या अत्यन्त चमकते नक्षत्र-सी ज्योति प्रतीत होती है—इससे भी सहस्रों गुणा चमकती हुई आभा प्रतीत होने लगती है।

जब संकोच-विकास का अभाव हो, तो उस समय मन में सत्व प्रधान समझना चाहिये। जब मन में अत्यन्त देदीप्यमान् सूर्य के समान आभा हो और किञ्चित् रक्ताभ या पीतवर्ण लिये हुए हो और संकोच-विकास क्रिया वर्तमान हो, तो मन को रजस् प्रधान समझना चाहिये। जिस समय कुछ अन्धकार या धुंधलापन दिखाई दे और बाह्य संकोच-विकास का अभाव हो, तब मन को तमस् प्रधान समझना चाहिये। क्योंकि मन त्रिगुणात्मक है, इसलिये प्रत्येक गुण का परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी।

यह सूक्ष्म विज्ञान का अति-इन्द्रिय विषय ऐसा चल रहा है

कि यदि मैं अन्तर्मुख होता हूँ, तो लेखनी बन्द हो जाती है और बाह्यमुख-वृत्ति से लिखता हूँ, तो वह अनुभव लेखनी में नहीं आता। अतएव यह स्वयं ही अनुभव करने योग्य है। अथवा किसी उच्च कोटि के योगी द्वारा अनुभव कराने योग्य है।

ब्रह्मरन्ध्र के पदार्थ

इस ब्रह्मरन्ध्र में १७ पदार्थ मुख्य रूप से हैं:—

(१) बुद्धि (२) मन (३) ५ ज्ञानइन्द्रिय (४) ५ कर्मेन्द्रिय (५) ५ तन्मात्रा। इन्हीं १७ तत्वों का सूक्ष्म या लिंग शरीर कहलाता है। इसका सम्बन्ध जीवात्मा के साथ तब तक बना रहता है, जब तक मोक्ष नहीं हो जाता।

स्थूल शरीर का जन्म-मरण सर्वदा होता रहता है। धर्माधर्म संस्कार का वाहक यह लिंग शरीर ही है। यदि पंच तन्मात्रा अथवा सूक्ष्म भूतों का प्रत्यक्ष करना हो, तो सूक्ष्म इन्द्रियों के मण्डलों के बाहरी या ऊपरी भाग में जो पंचतन्मात्राओं का मण्डल है, वहां अभ्यास करना चाहिये, तब पंच तन्मात्राओं का प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को हो जाता है।

यद्यपि योगभाष्यकार व्यास भगवान् ने जिह्वा के अग्र भाग में धारणा का अभ्यास करने से दिव्य-रस का प्रत्यक्ष या अनुभव ज्ञान कहा है; परन्तु हमारे विचार में बाह्य स्थूल इन्द्रियों के अग्र-भाग में धारणा का अभ्यास करने से स्थूल भूतों के विषयों का प्रत्यक्ष होता है। सूक्ष्म-इन्द्रिय जो ब्रह्मरन्ध्र में वर्तमान हैं, उन पर ध्यान द्वारा अभ्यास करने से दिव्य-शब्द स्पर्श आदि पंचतन्मात्राओं का प्रत्यक्ष होता है। यह विषय बहुत सूक्ष्म तथा गहन है। बहुत काल निरन्तर एकान्त और शान्त स्थान में रह कर अभ्यास करने से इन अतीन्द्रिय पदार्थों का विज्ञान प्राप्त होता है। अथवा किसी उच्च कोटि के योगी के समीप रह कर उसके

आदेशानुसार अभ्यास करने से शीघ्र सफलता होती है।

इस ब्रह्मरन्ध्र के विषय में केवल सामान्य रूप से ही लेखनी द्वारा इस विज्ञान को लिखा गया है। विशेष विज्ञान जो स्वयं समाधि अवस्था में प्राप्त होता है, वह लेखनी में नहीं आ सकता।

हृदय देश में

पहिले लिखा जा चुका है कि इस स्थूल शरीर में विज्ञान के दो ही मुख्य केन्द्र हैं:—ब्रह्मरन्ध्र तथा हृदय। अब हम हृदय के विषय में कुछ अनुभव लिखते हैं।

हमारे अपने अनुभव में छः पदार्थ हृदय देश में मुख्य रूप से वर्तमान हैं। इनका विज्ञान ब्रह्मरन्ध्र की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है और ये पदार्थ भी ब्रह्मरन्ध्र के पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म हैं। वे छः पदार्थ ये हैं:—

(१) सूक्ष्म प्राण। (२) अहंकार (३) चित्त अथवा अन्तःकरण (४) जीवात्मा (५) प्रकृति और (६) ब्रह्म।

जिस प्रकार दिव्य ज्योतियुक्त ब्रह्मरन्ध्र के मण्डल हैं, उसी प्रकार दिव्य-ज्योति युक्त ये पदार्थ भी मण्डलों के आकार में हैं। सम्भव है, आप यह शंका करें कि आपने ब्रह्म को भी एक-देशी मण्डल के रूप में या सावयव-पदार्थ कथन कर दिया है। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म एक देशी या सावयव-पदार्थ नहीं है, वह बो सर्वत्र परिपूर्ण निरवयव व्यापक रूप से वर्तमान है। यहां केवल अन्तःकरण विशिष्ट ब्रह्म ही का निरूपण किया जा रहा है, जैसे कि घटाकाश या मठाकाश का निरूपण किया जाता है।

अन्तःकरण विशिष्ट ब्रह्म को मण्डल के रूप में वर्णन किया गया है, अन्यथा ब्रह्म तो सर्वत्र परिपूर्ण रूप से एक ही समान है; क्योंकि हृदय-देश में उसका अनुभव होता है, इस लिये विचार के लिये हृदय विशिष्ट मण्डल कह दिया है। हृदय ही एक

ऐसा स्वच्छ निर्मल स्थान है, जहां कि ब्रह्म की प्रतीति सम्यक् प्रकार से की जा सकती है; क्योंकि ब्रह्म और अन्त:करण का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है, जैसे कि सूर्य की आभा पाषाण पर भी पड़ती है, और दर्पण पर भी पड़ती है; परन्तु दर्पण में प्रत्यक्ष रूप से उस आभा की प्रतीति होती है और पाषण में नहीं। इसी प्रकार दोनों आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) की प्रतीति या अनुभूति अथवा प्रत्यक्ष विज्ञान इस हृदय देश में ही हो सकता है। यह प्रतीति और अनुभव ऐसा ही है, जैसे सूर्य को आकाश में देख रहे हैं। परन्तु इसे देखने से सूर्य का पूर्वापरी ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार हृदय में भी हृदय-विशिष्ट ब्रह्म की प्रतीति होती है, सम्पूर्ण रूप से नहीं।

हृदय-देश में सर्वप्रथम मण्डल ब्रह्म का है। दूसरा प्रकृति का है। तीसरा मंडल जीव का है। चौथा अन्त:करण का। पांचवा अहंकार का। और छटा सूक्ष्म प्राण का है। ब्रह्म का मण्डल प्रकृति तथा पदार्थों के मण्डलों को व्याप्त करके ठहरा हुआ है। यह जो प्रकृति का मण्डल है, इसी को कारण-शरीर भी कहते हैं। जीवात्मा का और इसका अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है। इस सम्बन्ध का हेतु अविद्या है।

ब्रह्म विभु, व्यापक, निरवयव और सर्वदेशीय है। प्रकृति भी एक प्रकार से सर्वत्र व्यापक रूप से वर्तमान है, परन्तु ब्रह्म की व्यापकता के समान इसकी व्यापकता नहीं है। अन्तर यह है कि ब्रह्म चेतन है और प्रकृति जड़ है।

जीवात्मा एक देशीय, सूक्ष्म और नाना हैं। जिस प्रकार ब्रह्म की व्यापता रूप सम्बन्ध से सर्वत्र प्रकृति में क्रिया वर्तमान रहती है, उसी प्रकार प्रकृति का जो कार्य अन्त:करण है, उस

के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होने से अन्तःकरण में भी क्रिया वर्तमान रहती है।

अन्तःकरण और जीवात्मा का बिम्ब-बिम्बी भाव सम्बन्ध है। अन्तःकरण पर जीवात्मा का आभास पड़ने से इस अन्तःकरण में दो शक्तियां पैदा होती हैं, ज्ञान तथा क्रिया। फिर इस ज्ञान रूपी शक्ति के चार विभाग हैं—(१) चित्त (२) अहङ्कार (३) बुद्धि और (४) मन।

बहुत से आचार्यों ने बुद्धि का समावेश चित्त में ही कर दिया है। उस अवस्था में तीन प्रकार की अन्तःकरण से प्रतिबिम्बित जो दूसरी शक्ति क्रिया है, उसको सूक्ष्म-प्राण कहा जाता है। एक प्रकार से वह ज्ञान तथा क्रिया शक्ति अन्तःकरण की दो वृत्तियां भी कही जा सकती है। इस क्रिया रूप शक्ति का दूसरा नाम जीवनी-शक्ति भी है। क्योंकि शरीर में यही जीवन का संचार करती है। इस क्रिया-रूप शक्ति को ही पांच प्रकार के प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान तथा उपप्राणों के रूप में भी कथन किया गया है। अन्तःकरण पर जो जीवात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस प्रतिबिम्ब से अन्तःकरण में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया को ही जीवनी-शक्ति क्रिया रूप प्राण कहा गया है।

सूक्ष्म प्राण कोई भौतिक-पदार्थ अर्थात् वायु से उत्पन्न हुआ हुआ नहीं है। रजस् प्रधान पंचभूतों से भी इसकी उत्पत्ति नहीं है। यह जीवात्मा से प्रतिबिम्बित अंतःकरण की हरकत-विशेष या क्रिया-विशेष अथवा वृत्ति-विशेष ही का नाम-प्राण है। अतएव सांख्यकार कपिलाचार्य ने दूसरे अध्याय के ३१वें सूत्र में कहा है:—

सामान्यकरण वृत्तिः प्राणाद्यावयवः पंच ।

अर्थात् सामान्य अन्तःकरण का जो परिणाम भेद है, उस परिणाम रूप वृत्ति-विशेष का नाम ही पांच प्राण है।

अभ्यासी को चाहिये कि वह ध्यान के द्वारा हृदय में प्रवेश करके, प्रथम प्राण के मण्डल पर अभ्यास करे। हृदय देश में ब्रह्मरन्ध्र की अपेक्षा छोटा आकाश है। उसी में ही ये छः पदार्थ वर्तमान रहते हैं। जीवात्मा और अन्तःकरण के प्रति बिम्बित होने से उस हृदयाकाश से ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति पैदा होकर ज्ञान तथा जीवन का संचार सारे शरीर में हो जाता है।

यह हृदय कोष-अर्ध-विकसित कमल की भांति है, जोकि उरुस्थल के मध्य में वाम-पार्श्व की ओर मेरु-दण्ड और सुषुम्ना के अग्र भाग में है। इसी के मध्य में वास्तविक रूप में जीवात्मा का निवास है।

जीवात्मा के अंतःकरण पर प्रतिबिम्बित होने पर 'अहमऽस्मि' इस प्रकार का बोध होता है। 'अहमऽस्मि' के बोध के साथ ही जीवन-शक्ति का संचार हो जाता है। जीवन-संचार उत्पन्न होकर सारे शरीर में व्याप्त-सा हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां सूर्य-मण्डल से निकल कर, सर्वत्र आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं, इस प्राण-मण्डल पर अभ्यास करके अभ्यासी को इसका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

इसके पश्चात् अहंकार के मण्डल पर अभ्यास करना होगा, जोकि अंतःकरण के अत्यन्त समीप है और अंतःकरण ही का दूसरा परिणाम है। वह अंतःकरण भी समष्टि महत्त्व का एक अंश विशेष ही है। इस अहंकार-रूप मण्डल पर ध्यान द्वारा समाधि में स्थित होकर, अहंकार का प्रत्यक्ष करना चाहिये। तब जिस अंतःकरण पर जीवात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, उसका साक्षात्कार करना होगा।

कुछ आचार्य पांच पकार का अंतःकरण कहते :हैं—
(१) अन्तःकरण (२) चित्त (३) अहंकार, (४) बुद्धि (५) मनं। वास्तव में अन्तःकरण एक ही है; परन्तु व्यापार भेद से इसके भिन्न-भिन्न नाम कथन किये गये हैं। इस अंतःकरण पर जीवात्मा की आभा पड़ रही है, जिससे यह जाज्वल्यमान अन्तः-करण संकोच-विकास भाव को प्राप्त होकर ज्ञान तथा कर्म को प्रारम्भ करता है। इस अवस्था में इसके दर्शन करने से, जो महान् आनन्द उपलब्ध होता है, वह वाणी अथवा लेखनी से वर्णन करना नितांत असम्भव है।

क्योंकि यह जीवात्मा का अत्यन्त समीपवर्ती पदार्थ है। यही जीवात्मा के बन्ध का हेतु बना हुआ है। इसी पर अभ्यास करने से इसके निकटवर्ती जीवात्मा का भी अनुभव होने लगता है। अर्थात् जीवात्मा और अन्तःकरण का पार्थक्य-भेद पदार्थ रूप से प्रतीत होने लगता है। इसी जीवात्मा के प्रतिबिम्बित होने से इस अन्तःकरण में भी एक प्रकार की चेतनता-सी पैदा हुई है। इस अन्तःकरण का जीवात्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है और मोक्ष पर्यन्त बना रहेगा।

जैसे एक आतशी शीशे (वृहण यंत्र) पर सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से समीप के वस्त्र आदि को वह जलाने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा का आभास पड़ने से अन्तःकरण में ज्ञान और क्रिया उत्पन्न होते हैं। जिस समय जीवात्मा शरीर को छोड़ कर गमन करता है, तो ज्ञान, कर्म इन्द्रिय तथा मन और बुद्धि के मण्डल इस अन्तःकरण में आकार समावेशित हो जाते हैं। यह ज्योतिर्मय अन्तःकरण जीवात्मा के ज्ञानरूप प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहा है।

यद्यपि इसमें स्वभावरूप से अपना भी प्रकाश है, तथापि यह विशेष प्रकाश जीवात्मा ही के प्रतिबिम्ब से प्राप्त करता है। जीवा आत्मा का प्रकाश इसकी अपेक्षा महान् है, जैसे सूर्य के समक्ष एक दीपक का प्रकाश।

इसी अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार या वासना ओत-प्रोत होकर रहते हैं। बहुत से आचार्यों ने इसी अन्तःकरण या चित्त को ही आत्मा मान लिया है। जो लोग जड़ और चेतन, ब्रह्म के दो गुण मानते हैं, उन्हीं को इस अन्तःकरण और जीव में ब्रह्म की भ्रांति हो गई है।

इस जीवात्मा के अंतःकरण पर प्रतिबिम्बित होने से इस सारे शरीर का व्यवहार चल रहा है। जिस समय इस अंतःकरण की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यह अंतःकरण अपने कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकृति को ही कारण शरीर के नाम से प्रतिपादित किया गया है।

जिस प्रकार जीवात्मा के सम्बन्ध से अंतःकरण, में सर्वदा व्यापार बना रहता है और इस व्यापार का मोक्ष के अतिरिक्त किसी भी अवस्था में अभाव नहीं होता, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि में भी व्यापार बना रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म और प्रकृति के सम्बन्ध से प्रकृति में भी क्रिया बनी रहती है। किसी भी काल में प्रकृति में क्रिया का अभाव नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म और प्रकृति का व्याप्य-व्यापक भाव नित्य सम्बन्ध है। ब्रह्म की व्यापकता का अभाव किसी भी काल में नहीं होता। न हुआ, न है, और न होगा। अतएव सर्वदा सम्बन्ध रहने से क्रिया भी सर्वदा रहनी चाहिये।

प्रलयकाल की साम्य-अवस्था में केवल क्रिया का ऐसा ही

अभाव होता है, जैसे कि सुषुप्ति काल में जीवात्मा का बाह्य ज्ञान-कर्मेन्द्रियों के व्यापार का अभाव होता है; परन्तु निद्रा काल में अंतःकरण की क्रिया का अभाव नहीं होता। इसी प्रकार प्रलयकाल में भी प्रकृति में सूक्ष्म-क्रिया बनी रहती है, क्रिया का सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि चेतन ब्रह्म का व्यापकता रूप सम्बन्ध उस समय भी बना हुआ है।

अन्तःकरण की सब वृत्तियों का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात-समाधि की अन्तिम अवस्था होती है। अनादि-काल के जो संचित-कर्म और उनकी वासनायें हैं, वे भी इस चित्तके साथ ही प्रकृति रूप कारण में विलीन हो जाती हैं। उस समय जीवात्मा की स्व-स्वरूप में स्थिति अथवा मोक्ष प्राप्त होता है; परन्तु इस तत्वज्ञान या मोक्ष में; ज्ञान और वैराग्य ही मुख्य हेतु होते हैं। तत्वज्ञान के पश्चात् प्रकृति और इस के सब कार्यों से परम वैराग्य हो कर मोक्ष होता है। अतएव अभ्यासी को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात-समाधि में सब पदार्थों का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। तब ही परम-वैराग्य उत्पन्न होगा। जब तक किसी पदार्थ के दोष, गुण और स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, तब तक उससे परम वैराग्य उत्पन्न नहीं होता।

अन्तःकरण का प्रत्यक्ष होने पर योगी को उसके कारण रूप प्रकृति का भी समाधि द्वारा प्रत्यक्ष करना चाहिये। क्योंकि परम्परागत जीवात्मा के बन्धन का मुख्य हेतु—उपादान-कारण प्रकृति ही है। यह प्रकृति का मण्डल इन चारों मण्डलों को आच्छादित-सा करके रहता है; क्योंकि यह मण्डल चारों की अपेक्षा महान् है और यही जीवात्मा का कारण-शरीर है, जैसे पंच तन्मात्राओं का मण्डल, लिंग-शरीर का कोष होता है, उसी प्रकार यह अन्तःकरण विशिष्ट प्रकृति का मण्डल, शरीर के रूप में जीवात्मा के प्रति

कोष के समान होता है। इसका अभाव मोक्ष में जाकर होगा और यही मुख्य रूप से अनादि काल से जीवात्मा के बन्धन का हेतु चला आ रहा है।

इस प्रकृति के मण्डल के ऊपर ब्रह्म का मण्डल इन पाँचों मण्डलों को व्याप्त करके ठहरा हुआ है। यद्यपि ब्रह्म का कोई मण्डल इत्यादि तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह सर्व-व्यापक है, परन्तु हृदयाकाश-स्थित ब्रह्म को मण्डल के रूप में वर्णन किया है। प्रकृति के मण्डल को भी व्यष्टिरूप से वर्णन किया गया है। इस शरीर में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब व्यष्टि रूप से वर्तमान हैं, अतएव योगी को प्रथम समाधि द्वारा व्यष्टि पदार्थों का साक्षात्कार करके पुनः समष्टि पदार्थों का साक्षात्कार करना चाहिये। क्योंकि यह व्यष्टि और समष्टि दोनों ही बन्धन के हेतु हैं।

जब योगी को व्यष्टि और समष्टि पदार्थों का विवेक हो जाये, तब उसके पश्चात् जीवात्मा और ब्रह्म का तत्वज्ञान पैदा होता है। क्योंकि अन्तःकरण जड़ है, इसलिये यह अपने कार्य-कारण आत्मक पदार्थों के प्रत्यक्ष कराने में साधनभूत हो सकता है, आत्मा को नहीं। क्योंकि जड़ से चेतन का ज्ञान नहीं हो सकता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार का चेतन जीवात्मा है, उसी प्रकार का चेतन ब्रह्म है। एक चेतन के ज्ञान होने के साथ ही उसके समान-जातीय चेतन ब्रह्म का ज्ञान भी हो जाता है। उस समय चेतन ब्रह्म के जानने के लिये किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अन्तःकरण का अभाव हो चुका है। जिस करण के द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार किया है, वह करण अब रहा भी नहीं और न ही वह जड़करण चेतन को प्रत्यक्ष करा सकता था; क्योंकि ब्रह्म तो सर्वथा ज्ञात विषय है। वह पहले भी अज्ञात

नहीं था, जीवात्मा के बन्धन के हेतु तो केवल प्रकृति और उसके कार्य थे। उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। इसलिये अब बीच में कोई पर्दा नहीं रहा। माया (प्रकृति) का पर्दा अब फट या टूट गया है, तो अब ब्रह्म के प्रत्यक्ष में कोई रुकावट या बाधा भी नहीं रही। बस यही जीवात्मा का मोक्ष और ब्रह्म-ज्ञान है।

यह अध्यात्म-विद्या अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है, परन्तु इसके द्वारा ही प्रकृति और उसके कार्यों का विज्ञान तथा उस से परम-वैराग्य होकर, आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है। आत्म-ज्ञान तथा ब्रह्म-ज्ञान ही मनुष्य जीवन का वास्तविक उद्देश्य है और यह मनुष्य-जीवन ही में प्राप्त किया जा सकता है। सांसारिक भोग तो दूसरी योनियों में भी भोगे जा सकते हैं; परन्तु यह मनुष्य-देह ही एक ऐसा है, जिसमें तत्व-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य-मात्र को चाहिये कि वह इस अमूल्य-जीवन को प्राप्त करके व्यर्थ में नष्ट न करे। आत्म-ज्ञान के लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे। तभी दुःखों से छुटकारा हो सकता है। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि संसार के अधिकांश लोग प्रायः भोगों का उपार्जन करने में ही सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। यथार्थ सुख तथा सच्ची शान्ति और आत्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म-ज्ञान के लिये तो वे यत्न ही नहीं करते। चेतो, संसारी जीवो ! चेतो !

+ ओ३म् तत्सत् +